मोहन राकेश जन्म शताब्दी विशेषांक

प्रेम-प्रोत्साहन-प्रतिभा का प्रतीक

अभिनव इमरोज़

Abhinav Imroz

ISSN 2321-1105

वर्ष–14 , अंक–01, जनवरी 2025

Website : abhinavimroz.page

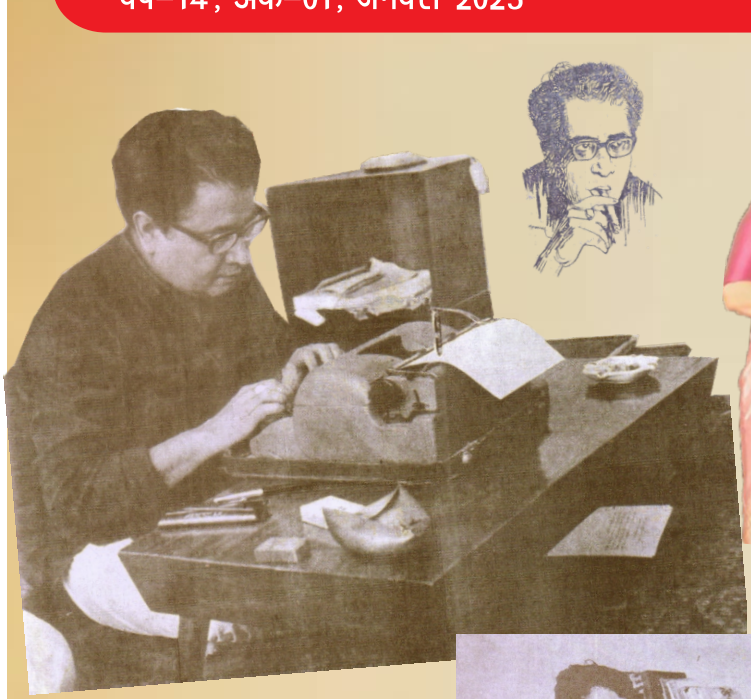

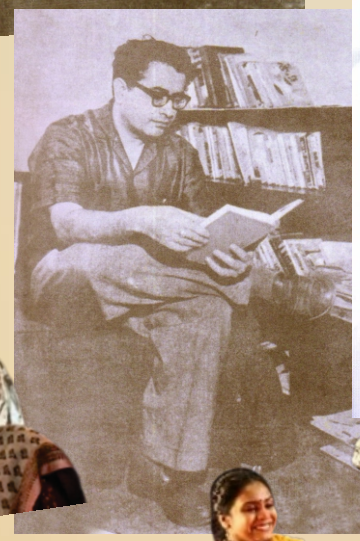

तब से अब तक...

वर्ष 1966 में मंचित 'लहरों के राजहंस' में ओम शिवपुरी और सुधा शर्मा : निर्देशक ओम शिवपुरी।

सर्कल थियेटर ग्रुप के तत्वावधान में बापी बोस द्वारा निर्देशित 'आषाढ़ का एक दिन' के मार्च 2017 को श्रीराम सेंटर, दिल्ली में हुए मंचन का एक दृश्य।

मोहन राकेश
(8 जनवरी 1925-3 – दिसंबर 1972)

वर्ष 1992 में मंचित 'पैर तले की ज़मीन' में सौरभ शुक्ला, ग्रूशा कपूर और विजय शुक्ला : निर्देशक रंजीत कपूर।

रचनात्मक प्रयोग के तौर पर 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' व 'आधे अधूरे' का शून्य नाट्य समूह की निर्देशक रमा यादव की परिकल्पना व निर्देशन में 'मोहन राकेश के तीन नाटक ' शीर्षक से सितंबर 2024 में श्रीराम सेंटर, दिल्ली में हुए मंचन का एक दृश्य।

वर्ष 1992 में मंचित 'आषाढ़ का एक दिन' में सीमा विश्वास और प्रतिमा काज़मी : निर्देशक राम गोपाल बजाज।

आभार

अहोभाग्य– कि विश्वविख्यात कहानीकार एवं नाटककार मोहन राकेश के जन्म शताब्दी वर्ष पर, उनका साहित्य-निधि विशेषांक प्रकाशित करने का अवसर 'अभिनव इमरोज़' को मिला। इस प्रस्तुति के प्रेरणा स्रोत जयदेव तनेजा जी हैं जिन्होंने मुझे मीरा कांत जी के पास भेजा और मीरा जी ने मेरा निवेदन स्वीकार करते हुए अतिथि सम्पादन की ज़िम्मेदारी संभाल ली। और तो और उनकी संपादन-प्रक्रिया से गुज़रते हुए मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला, इतना कि मैं धन्य हो गया।

अदबी सलीक़ा और सलाहियत का सबक मुझे 14 वर्ष के अनुभव के बावजूद पहली बार मिला, कुछ बारीक़ पेचीदगियाँ, महीन नुक्ते और नुस्ख़े समझ में आए। मीरा जी मुझे अपना शिष्य मानें न मानें मैंने उन्हें अपना गुरु मान लिया है।

जयदेव जी और मीरा जी का आभार व्यक्त करना महज़ एक औपचारिकता ही है क्योंकि दरअसल जो मेरे मन में है उसकी अभिव्यक्ति के लिए मेरा शब्दकोश पूर्णतया असमर्थ है। **सम्पादक :**

प्रकाशन कार्यालयः
बी 3/3223 वसंत कुंज,
नई दिल्ली.110070
दूरभाष : 09910497972
e-mail: abhinavimroz@gmail.com
dk.bahl1942@gmail.com,
facebook: facebook.com/abhinavimroz
website : abhinavimroz.page

Paytm PhonePe

Bank Account Details

डी. के. बहल, A/c No. 520101222134565
यूनियन बैंक, वसंत कुंज, नई दिल्ली 110070
IFSC Code : UBIN0905381

मोहन राकेश की साहित्य-निधि

अतिथि सम्पादकीय

मीरा कांत — *आधुनिकता- बोध की ईंटों से बनी बुलन्द इमारत* 5

नाट्य संसार

राजेश कुमार — *सत्ता और संस्कृति का अंतर्द्वंद्व* 7

मधु कौशिक — *लहरों के राजहंस में द्वंद्व का प्रश्न* 13

आशा — *मोहन राकेश के नाटकों की भाषा* 19

राकेश के नाम

जयेदव तनेजा — *सावित्री को शिकायत है राकेश से* 25

एकांकी जगत

मृत्युंजय प्रभाकर — *पीछे छूट जाने वाले सवाल ही होते हैं 'सबसे बड़े सवाल '* 29

अनीता देवी — *राष्ट्रीयता और मानवता के ताने-बाने में गुंथी एकांकी : 'सिपाही की मां '* 33

कथा लोक

हरियश राय — *रागात्मक संबंधों की ऊर्जा को बचाए रखने की कहानियाँ* 36

श्रीकांत आप्टे — *मोहन राकेश : हिंदी साहित्य का यायावर* 41

कुसुम लता — *मोहन राकेश की कहानियों में भाव-वैविध्य* 43

डायरी का फलक

देवेश — *आईने से कुछ कम : मोहन राकेश की डायरी* 49

बाल साहित्य की दुनिया

माधवी कुमार — *बालमन के झरोखे से मोहन राकेश* 53

बातों के दरीचे

मनोज मोहन — *स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में सम्यक समीकरण का बिन्दु तलाश रहे थे राकेशः जयदेव तनेजा* 57

संपादन–संचालन अवैतनिक/रचनाओं की जिम्मेदारी लेखकों की। प्रकाशित लेखादि में अभिव्यक्त विचारों से प्रकाशक–सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं। समस्त विवादों के लिए न्यायालय क्षेत्र दिल्ली।

स्वत्वाधिकारी मुद्रक एवं प्रकाशक श्री देवेन्द्र कुमार बहल की ओर से डिकोरपेक इण्डिया प्रा. लि., 291–डी, सेक्टर–6, आई.एम.टी. मानेसर, गुरुग्राम, हरियाणा से छपवा कर बी–3/3223 वसंत कुंज, नई दिल्ली – 110070 से प्रकाशित। संपादक, देवेन्द्र कुमार बहल

मोहन राकेश की साहित्य-निधि

कहानी संग्रह

इंसान के खंडहर	(प्रगति प्रकाशन, 1950)
नये बादल	(भारतीय ज्ञानपीठ, 1957)
जानवर और जानवर	(राजकमल, 1958)
पाँच लम्बी कहानियाँ	(राजकमल, 1960)
एक और ज़िन्दगी	(राजपाल, 1961)
फ़ौलाद का आकाश	(अक्षर प्रकाशन, 1966)
सुहागिनें	(हिन्द पॉकेट बुक्स, 1966)
आज के साये	(राधाकृष्ण, 1967)
रोंये- रेशे	(राधाकृष्ण, 1968)
एक-एक दुनिया	(राधाकृष्ण, 1968)
मिले-जुले चेहरे	(राधाकृष्ण, 1969)
मेरी प्रिय कहानियाँ	(राजपाल, 1971)
क्वार्टर	(राजपाल, 1972)
वारिस	(राजपाल, 1972)
पहचान	(राजपाल, 1972)
सम्पूर्ण कहानी-संग्रह	(राजपाल, 1984)

उपन्यास

अँधेरे बन्द कमरे	(राजकमल, 1961)
न आनेवाला कल	(राजपाल, 1968)
अन्तराल	(राजकमल, 1972)
काँपता हुआ दरिया	(राधाकृष्ण, 2020)

नाटक

आषाढ़ का एक दिन	(राजपाल, 1959)
लहरों के राजहंस	(राजकमल, 1963)
आधे अधूरे	(राधाकृष्ण, 1969)
पैर तले की ज़मीन	(राजपाल, 1975)

एकांकी

अण्डे का छिलका, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक	(राधाकृष्ण, 1973)
रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक	(राधाकृष्ण, 1974)

यात्रा - संस्मरण

आखिरी चट्टान तक	(प्रगति प्रकाशन, 1953)

निबन्ध / आलेख

परिवेश	(भारतीय ज्ञानपीठ, 1967)
समय सारथी (जीवनी)	(राधाकृष्ण, 1972)
साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि	(राधाकृष्ण, 1975)

डायरी : आत्मकथा

बक़लमख़ुद	(राजपाल, 1974)
मोहन राकेश की डायरी	(राजपाल, 1985)

बाल साहित्य

बिना हाड़-मांस के आदमी	(राधाकृष्ण, 1974)

अन्य

एन एनथॉलॉजी (आधे अधूरे, आईने के सामने, तेरह कहानियों और एक साक्षात्कार का अंग्रेज़ी अनुवाद)	(राधाकृष्ण, 1974)
रंगमंच और शब्द (लेख)	
शब्द और ध्वनि (लेख)	('इनैक्ट' अंक 21)

अनुवाद : (मोहन राकेश द्वारा किए गए)

मृच्छकटिक, शूद्रक	(राधाकृष्ण, 1961)
शाकुंतल, कालिदास	(राधाकृष्ण, 1965)
एक औरत का चेहरा	The Portrait of a Lady by Henery James
उस रात के बाद	The End of the Affair by Graham Green
हिरोशिमा के फूल	Flowers of Hiroshima by Edita Morris

संपादक देवेन्द्र कुमार बहल (बाएँ) रंग समीक्षक डॉ. जयदेव तनेजा के साथ।

नाटककार डॉ. मीरा कांत (बाएँ) के साथ संपादक देवेन्द्र कुमार बहल।

अतिथि संपादकीय

आधुनिकता-बोध की ईंटों से बनी बुलन्द इमारत

मीरा कांत

हिन्दी नाट्य जगत में मोहन राकेश एक ऐसा नाम, ऐसे हस्ताक्षर हैं जिन्होंने आधुनिकता-बोध की ईंटों को जोड़कर नाटक लिखे और हिन्दी नाटक की इमारत को आसमान तक की ऊँचाई दी । उसे अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया । श्रेष्ठ नाटक पहले भी लिखे गए थे । इसके बावजूद राकेश ही वे नाटककार हैं जिनके नाटक हिन्दी रंगमंच को अंधेरे से निकालकर रोशनी में लाए और राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी नाटक की उपस्थिति दर्ज हुई । कुल मिलाकर उनके नाटकों ने सम्पूर्ण हिन्दी नाट्य परिदृश्य को वो गहराई व व्यापकता प्रदान की जो समकालीन भारतीय नाटकों के मंज़र में दूर से देखी जा सकती है।

मोहन राकेश के नाटक ऐतिहासिक धागे से बुने गए हों या समसामयिकता की स्याही से उकेरे गए हों, उनका रोम-रोम अपने समय में साँस लेता है। उनके कथ्य व शिल्प दोनों में समकालीनता धड़कती है । उनके सृजन ने, उनकी रंग-चेतना ने भावी पीढ़ी को एक दिशा दी, एक नयी रचनात्मक दृष्टि के साथ आगे बढ़ने का उत्साह दिया।

मोहन राकेश ने लेखन की शुरुआत कहानियों से की । वे साहित्यिक आंदोलन ' नयी कहानी ' के अग्रणी रचनाकारों में से थे । राकेश की कहानियाँ लगातार बदलते आधुनिक परिवेश में जीवन संघर्ष से उपजी कुंठाओं, अंतर्द्वंद्वों और विडंबनाओं की गाथा है तो महानगरीय स्थितियों के बेगानेपन में अकेले होते चले जाने, संत्रास, ऊब की भी कथा है। इनमें आर्थिक समस्याओं से जूझते, टूटते, बिखरते मध्यवर्गीय परिवार मौजूद हैं तो तनाव, घुटन, अजनबीपन, कड़वाहट की हवा से घिरे दाम्पत्य सम्बन्ध भी हैं। समाज में निरंतर परिवर्तित मानव मूल्य उपस्थित हैं तो विभाजन से प्रभावित मानव-मन भी पाठकों को सोचने के लिए मजबूर करता है । प्रतिष्ठित पत्रिका ' सारिका ' का भी उन्होंने संपादन किया । कहानियों के साथ उन्होंने उपन्यास, नाटक, एकांकी, यात्रा वृत्तांत, डायरी, बाल साहित्य, आत्मकथा आदि अनेक विधाओं में लिखा पर नाटक ने उनके और उनकी कलम दोनों के दिलों पर राज किया। हिन्दी नाटक को उन्होंने जिस बुलन्दी पर पहुँचाया नाटक ने भी बदले में उन्हें वैसी ही प्रतिष्ठा और साहित्यिक रुतबा प्रदान किया। मोहन राकेश भाषा व सम्प्रेषण पर गहराई से सोचते थे। शब्दों व शब्दों के बीच मौजूद स्पेस व ख़ामोशियों आदि पर भी शोध करते थे।

उनके नाटक बहुमंचित शब्द की बाउंडरी वॉल से बाहर पहुँच चुके हैं। उन्हें पढ़ने व सराहने वालों की संख्या इतिहास रचने जैसी होगी । ये नाटक देश की असंख्य भाषाओं मे प्रकाशित व मंचित हुए हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी मोहन राकेश अपनी अलग पहचान रखते हैं। यह भी एक सुखद संयोग है कि इनके साहित्य के साथ इनका व्यक्तित्व व जीवन भी बहुत- सी पुस्तकों, लेखों तथा साहित्यिक चर्चाओं का विषय बना। आश्चर्य की बात है कि इसके बावजूद राकेश का बाल साहित्य एक कोने में ख़ामोशी से अकेला टुकुर- टुकुर यह सब तकता रहा। बच्चों के लिए उन्होंने बहुत कम लिखा परन्तु जो लिखा सार्थक, संवेदना से भरपूर और रचनात्मक रूप से सुन्दर लिखा। बाद के वर्षों में उनकी एक कहानी 'गिरगिट का सपना' ज़रूर विद्यालय की पाठ्यचर्या का हिस्सा बनी। इस विशेषांक में उनके कालजयी साहित्य की भांति उनके बाल साहित्य पर भी प्रकाश डाला गया है।

राकेश के नाटकों में पहली बार एक अलग किस्म की मानवता दिखाई दी जहाँ इंसान अपनी दुर्बलताओं, कमियों के साथ या कहें कि अपने आधे - अधूरेपन के साथ मंच के मध्य स्थापित है । जीवन जीने के संघर्ष में उसके अपने अस्तित्व की तलाश एक चुनौती बनकर उभरती है जो कभी उसके जीवन की यात्रा का एक पड़ाव लगती है तो कभी मंज़िल। इसमें दो राय नहीं कि इनके नाटकों में स्त्री के जीवन-संघर्ष को भी स्पॉट लाइट में खड़ा किया गया है। यहाँ एक सामान्य स्त्री अपनी विशेषताओं व

कमियों के समन्वय में पुरुष से कहीं अधिक सशक्त होकर उजागर हुई है।

मोहन राकेश के जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में उनके सृजन पर केन्द्रित ' अभिनव इमरोज़ ' के विशेषांक का संपादन करने का अवसर प्राप्त होना निस्संदेह हार्दिक प्रसन्नता का विषय है । उनके अधूरे उपन्यास ' काँपता हुआ दरिया ' को पूरक कथाकार की हैसियत से आगे बढ़ाकर एक तार्किक अंत तक पहुंचाने के रचनात्मक दायित्व को निभाने के बाद उनके साहित्य पर केन्द्रित इस विशेषांक के अतिथि संपादन का सुअवसर मिलना भी एक संयोग ही है। इससे कुछ अर्से तक एक बार फिर राकेश की साहित्य- निधि के आसपास बने रहने, उसका आनंद उठाने का मौका तो मिला ही, भीतर कहीं एक कर्तव्य- बोध भी बढ़ा। कोशिश रही है कि इस विशेषांक के माध्यम से पाठकों को उनकी कुछ कृतियों पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों, कोणों से लिखे गए अलग-अलग विचारों, मतों के लेख एक साथ एक जगह पढ़ने को मिलें। सभी लेखकों ने उत्साह के साथ सहयोग दिया। विशेषांक में उनके नाटकों के साथ ही उनकी कहानियों, डायरी व बाल साहित्य पर भी चर्चा हुई है।

हम सुप्रसिद्ध रंग समीक्षक डॉ. जयदेव तनेजा के आभारी हैं कि अपनी व्यस्तताओं में से समय निकाल कर उन्होंने इस अंक के लिए मोहन राकेश के व्यक्तित्व व कृतित्व पर एक विस्तृत बातचीत की जिसके कुछ अंश 'बातों के दरीचे' में प्रकाशित हैं।

पत्रिकाओं की अपनी कुछ सीमाएँ भी होती हैं। पृष्ठ संख्या से सम्बद्ध अपनी सीमा की फ़ेंस लाँघने के बावजूद 'अभिनव इमरोज़' मोहन राकेश की हर रचनात्मक विधा या कृति से जुड़ी सामग्री अपने पाठकों तक नहीं पहुँचा पा रहा है। कुछ लेखक हैं जो अपने प्रिय साहित्यकार मोहन राकेश की कुछ अन्य कृतियों पर विचारात्मक-विश्लेषणपरक सामग्री देने के इच्छुक हैं। उनका उत्साहपूर्ण सहयोग निस्संदेह हमारा मनोबल बढ़ा रहा है। अतः हमारा प्रयास रहेगा कि इसी वर्ष यानी राकेश के जन्म शताब्दी वर्ष के अंत में उनकी साहित्य-निधि पर एक विशेषांक और प्रकाशित किया जाए।

वर्तमान अंक के सभी सहयोगी लेखकों के प्रति असीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए मोहन राकेश की स्मृति को हमारा नमन। उनके कालजयी साहित्य से, उनकी रंग-चेतना से जाने कितनी पीढ़ियों को रचनात्मक प्रेरणा मिली है और भविष्य में भी मिलती रहेगी।

मीरा कांत

नाटककार एवं कथाकार

बी-95, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-110049

मो. 98113 35375

ईमेल: drmeerakant@gmail.com

वेब: www.meerakant.com

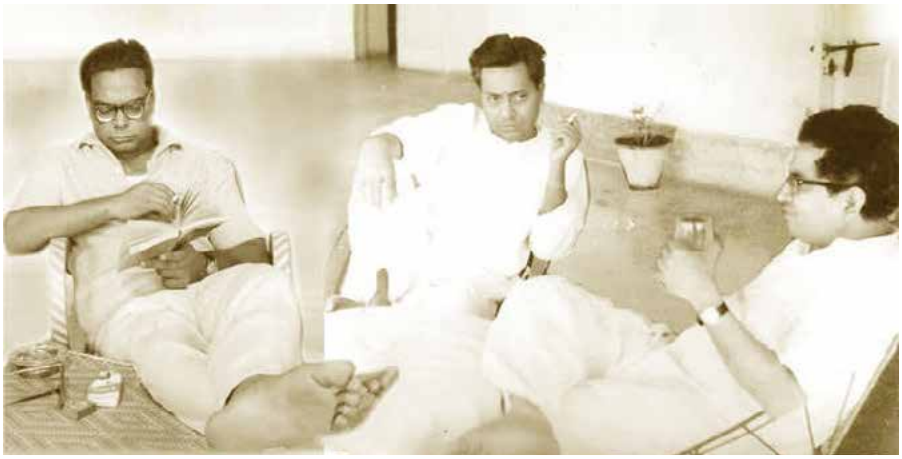

नयी कहानी आंदोलन के तीन स्तम्भ– (बाएँ से) राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर एवं मोहन राकेश।

सत्ता और संस्कृति का अंतर्द्वंद्व

संदर्भ : आषाढ़ का एक दिन

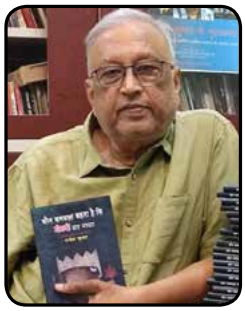

राजेश कुमार

कहा जाता है, जिस साहित्य में द्वंद्व जितना तीव्र-तीक्ष्ण होता है वो उतना ही सफल माना जाता है। अगर कोई द्वंद्व न हो, सरल-सपाट हो तो उतना रुचिकर नहीं होता है। उसमें भी नाटक के क्षेत्र में तो यह और भी ज़रूरी होता है, दर्शकों में सुरुचि, उत्सुकता उत्पन्न करने के लिए। लेकिन बात जब मोहन राकेश के उपरोक्त संदर्भित नाटक की हो और जैसा कि इस लेख का शीर्षक है, तो कई तरह की उत्सुकताओं का जागना स्वाभाविक है। कुछ लोगों को लगेगा कि कालिदास और मल्लिका के प्रेम से उपजे व्यक्तिगत द्वन्द्वों-अंतर्द्वंद्वों के बीच सत्ता और संस्कृति का अन्तर्द्वन्द्व कहाँ से उपस्थित हो गया ? समस्त नाटक तो कोमल प्रेम भावनाओं के उतार- चढ़ाव, आंतरिक अनुभूतियों का संवाद रूप में अभिलेख है। इसमें सत्ता और संस्कृति का अंतर्द्वंद्व कहाँ से आ गया? प्रकट रूप में जो मंच पर आता है उसमें कालिदास की रचनात्मक पृष्टिभूमि दिखती है, मल्लिका की वो महत्वाकांक्षा भी दिखती है जिसे पूर्ण करने के लिए वह ज़िंदगी भर जद्दोजहद करती है।

मल्लिका को अपने जीवन से उतना लगाव नहीं, न वह उसे संवारती हुई प्रयासरत है। वह कालिदास को शीर्ष पर देखना चाहती है और ज़िंदगी भर इसके लिए व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर संघर्ष करती है, यह नाटक में स्पष्ट रूप से चित्रित है। नाटक कालिदास के शीर्ष तक पहुँचने और वहाँ से मोहभंग होकर वापस लौटने का एक सफ़र है जो प्रमुखता से उभर कर आता है। भले मल्लिका का कोई अपना निजी स्वप्न नहीं है लेकिन कालिदास के सपनों में अपना सपना देखती है और उसे पूर्ण करने के लिए ज़िंदगी होम कर देती है। कालिदास भी स्वीकारता है कि मल्लिका उसकी प्रेरणा है और उसकी समस्त रचनाओं का आधार भी वही है। मल्लिका से दूर जाने के बाद भी वह दूर नहीं जा सका, मल्लिका उसकी रचनाओं के इर्द-गिर्द ही रही। प्रेम की इस गहरी अनुभूति को जितनी तीव्रता, एकाग्रता और गहराई से इस नाटक में व्यक्त किया गया है, उस अनुभूति से आज भी दर्शक और पाठक अभिभूत है।

इस नाटक में ऐसा क्या है कि लिखने के लगभग पैंसठ - छियासठ वर्ष बाद भी यह दिल के क़रीब का नाटक लगता है। उन्होंने और भी कई नाटक लिखे। 'आधे अधूरे', 'लहरों के राजहंस' और 'पैर तले की ज़मीन' के साथ ही कई लघु और बीज नाटक भी लिखे। इनके आज भी मंचन कहीं न कहीं, किसी शहर में होते रहते हैं। इनमें 'आषाढ़ का एक दिन' एक ऐसा नाटक है जिसके प्रति आज भी नाट्यकर्मियों और दर्शकों के बीच एक आकर्षण बना हुआ है। जब भी कहीं होता है, लोगों के अंदर एक उत्सुकता जागती है कि इस प्रदर्शन में कुछ नया देखने को मिलेगा या कोई अनुभव महसूस होगा जो अब तक नहीं हुआ। लोगों ने इस नाटक को कई-कई बार देखा है और पढ़ा भी है। कुछ लोगों के अंदर एक धारणा यह भी जड़ रहती है कि नाटक तो देखने की कला है, इसे पढ़ा क्या जाये ! इसी पूर्वाग्रह के कारण लोग साहित्य की अन्य विधाएँ जैसे कहानी, कविता और उपन्यास तो पढ़ते हैं, नाटक पढ़ने के प्रति कम उत्साह दिखाते हैं। लेकिन मोहन राकेश के सभी नाटकों की तरह 'आषाढ़ का एक दिन' लेखन के दृष्टिकोण से एक ऐसा नाटक है जो देखने में सुखद अनुभव देता ही है और इसका पाठ भी एक गहरी अनुभूति से परिचय कराता है। बहुतेरे ऐसे नाटक हैं जो दृश्यात्मकता में तो भव्य और सुंदर दिखते हैं, लेकिन पाठ के स्तर पर कमज़ोर और अस्वाद जैसा अनुभव देते हैं।

ऐसा लोग कहते हैं कि नाटक पढ़ने की नहीं देखने की कला है, लेकिन यह पूर्ण सत्य नहीं है। इंद्र के साथ जब दूसरे देवता गणों ने ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया था कि हम ऐसा क्रीडनीयक चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी (अर्थात् जिसे देख भी सकें और सुन भी सकें) तो उन्होंने नाट्यशास्त्र का सृजन किया था। इसलिए किसी भी नाटक की पूर्ण सफलता तभी होगी जब वह देखने योग्य तो हो ही, पठनीय भी हो। इस पैमाने पर 'आषाढ़ का एक दिन' बिलकुल खरा उतरता है। यह नाटक आज भी नाट्य निर्देशकों को जितनी तीव्रता से अपनी तरफ़ खींचता है, उतना ही हिन्दी साहित्य के संस्थानों में भी लोकप्रिय है। आज भी यह देश के कई शिक्षण संस्थानों में वर्षों से हिंदी साहित्य के नाटकों के

पाठ्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा बना हुआ है। यह एक सफल नाटक की पहचान है। जैसे शेक्सपियर, बर्नाड शा, गैल्सवॉर्थी के नाटक वर्षों से अंग्रेज़ी साहित्य के रूप में जिस तरह पढ़ाये जाते हैं, मोहन राकेश के नाटक भी हिन्दी साहित्य का हिस्सा बन कर अकादमिक जगत में शीर्ष पर है। अन्यथा ऐसे लोगों की कमी नहीं जो नाटक को तो साहित्य का हिस्सा ही नहीं मानते हैं। देखने की दया तो कर देते हैं, पढ़ने की ज़रूरत तो कभी महसूस ही नहीं करते हैं। बल्कि नाटक को पढ़ा भी जाता है, इस अवधारणा से ही इनकार करते हैं। इसी हठवादिता के कारण ऐसी पत्रिकाओं की कमी नहीं हैं जिनके दरवाज़े नाटक के लिए बंद रहते हैं। एलान कर रखा है कि हमारी पत्रिका में नाटक संबंधित सामग्री प्रेषित न करें, नाटक संबंधित पत्रिकाओं में ही नाटक या नाटक से जुड़े आलेख भेजें। ये लोग जो ऐसा कहते हैं या करते हैं, उन्हें इस अवधारणा से इनकार नहीं हैं कि नाटक साहित्य का हिस्सा नहीं है। वे सहमत हैं कि नाटक विधा साहित्य की सब विधाओं में सशक्त विधा है फिर भी नाटक से एक दूरी बना कर रखते हैं। नाट्य विधा के प्रति इस तरह का अंजानापन प्रदर्शित करते हैं जैसे कोई-कोई हिन्दीभाषी दक्षिण की भाषा के प्रति रखता है।

ऐसे में मोहन राकेश का यह नाटक इतने शीर्ष पर है, इसका क्या कारण हो सकता है ? क्या इसलिए कि इस नाटक की प्रत्यक्ष विषय-वस्तु कालिदास के जीवन से है जिनके बारे में जितनी कहानियाँ इतिहास में व्याप्त हैं, उससे अधिक लोक में तरह-तरह की किंवदंतियाँ सुनने को मिलती हैं। कुछ लोग इस कालिदास को नाटककार कालिदास के जीवन से भी जोड़ कर देखते हैं। कालिदास के नाटकों से तो सब भलीभाँति परिचित हैं, लेकिन उनके नाटकों को पढ़ कर उनकी प्रेयसी मल्लिका के बारे में कहीं से कुछ आभास नहीं मिलता है। नाटक में जिस तरह कहानी का निर्वाह किया गया है, उसे पढ़ कर कहीं से भी यह ऐतिहासिक नाटक से साम्य नहीं रखता है। न इस नाटक को कभी भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा गया है। अधिकतर पाठकों और नाटक प्रेमियों को यह नाटक इसलिए भाता है कि इसमें प्रेम को अत्यंत भावनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मल्लिका का प्रेम भौतिकवादी नहीं है। कालिदास के साथ उसका इतना निश्छल प्रेम है। वह कालिदास को जीवन में महान होता देखना चाहती है। कालिदास मल्लिका के लिए संपूर्ण व्यक्तित्व और एकाकार स्वप्न की भाँति हैं तो मल्लिका कालिदास की एकमात्र प्रेरणा।

ये उस दौर में लिखा गया जब राजनीति से जुड़ा कोई शख़्स हो या साहित्य-संस्कृति का, सबके सम्मुख एक सपना था और उस सपने को हक़ीक़त में बदलने के लिए वह कोई न कोई ऐसा रास्ता ढूँढ़ रहा था। भले इस नाटक का मुख्य पात्र कालिदास इतिहास से निकल कर आया हो, लेकिन इसके अन्य पात्रों व कथा सूत्रों का दावा किसी इतिहास से मिलने का नहीं किया जा सकता है। कहीं-न-कहीं उस वक्त के परिदृश्य को मोहन राकेश अपने नाटक की कथावस्तु बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने इतिहास का सहारा तो ज़रूर लिया, लेकिन नाटक को ऐतिहासिक नहीं बनाया। पारसी नाटक कुछेक वर्ष पूर्व ही रंगमंच के नेपथ्य में चला गया था। एक नये तरह का रंगमंच अपने आधुनिक विचारों के साथ नगरों-महानगरों में आना शुरू हो गया था। सत्ता से जुड़े शीर्ष लोगों की जो प्रगतिशील, समाजवादी सोच थी, उसकी तरफ़ भी संस्कृतिकर्मियों की नज़र थी। कहने में कोई संकोच नहीं कि वे उनके नज़रिए से प्रभावित थे। लंबे समय की परतंत्रता और उससे पूर्व की सामंती जकड़न के बाद मुल्क के नेतृत्व की ज़िम्मेदारी जिन लोगों पर थी, उनके सम्मुख ये चुनौती थी कि समाज का स्वरूप क्या हो ? क्या परंपरा के नाम पर जड़ मानसिकता वाले संस्कारों के अनुसार लोगों का जीवन संवारा जाए या दूसरे मुल्कों की तरह विज्ञान और समाजशास्त्र के नये सिद्धांतों का अनुपालन किया जाये ? रंगमंच को उस धारा से अलग करना आसान न था। यहाँ भी ऐसे रंग निर्देशक और नाटककार थे जो रंगमंच को आधुनिक रूप देने के पक्षधर थे और इस धारा से पूरी तरह सहमत थे।

मोहन राकेश ने इस नाटक की भूमिका में संक्षिप्त रूप में जो भी लिखा है, उस पर गौर फ़रमाने की ज़रूरत है। जब वे लिख रहे थे, उनके सम्मुख भी नाटक को लेकर कई तरह की दुविधाएँ थीं। नाटक को किस दिशा में ले जाएँ, भारतीय रंगमंच को क्या पहचान दी जाए, उनकी चिंता का विषय था। तभी तो उन्होंने भूमिका में नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के बारे में कुछ लिखने की अपेक्षा हिन्दी रंगमंच के विकास पर टिप्पणी करना ज़्यादा ज़रूरी समझा। वे लिखते हैं, ''हिन्दी रंगमंच के विकास से निस्संदेह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्धराजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ-तहाँ बनवा दी जाएँ जिससे वहाँ हिंदी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए, जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं

तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा ।'' नाटक और रंगमंच के प्रति मोहन राकेश की जो चिंता है, उसमें व्यापक जनमानस सम्मिलित है। उनके रंगमंचीय दृष्टिकोण में अभिजात्य वर्ग की संस्कृति की अपेक्षा जनता की संस्कृति पर ज़्यादा बल है। उनकी आकांक्षाओं को नाटक में लाना उनकी प्राथमिकता है। यही कारण है कि इस नाटक में संभ्रांत जनजीवन की तुलना में ग्राम्य परिवेश, वहाँ रहने वाले ज़मीनी लोगों की एकाग्रता, तीव्रता और इनकी भावनाएँ गहराई से व्यक्त हुई हैं। इसके पूर्व के नाटकों में इसका स्पष्ट अभाव था। विशेष कर आज़ादी के बाद के लिखे नाटकों में। इसलिए मोहन राकेश का यह नाटक हिन्दी भाषियों के लिये बिल्कुल नवीन प्रयोग था। कथ्य और रंगशिल्प दोनों के धरातल पर।

नेमिचंद्र जैन को कहीं-न-कहीं इसकी मौलिकता का अहसास हो गया था। तभी उन्होंने कहा था कि, ''नाट्य रूप की दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' सुगठित यथार्थवादी नाटक है। इसमें बाह्य ब्योरे की अपेक्षा परिस्थिति के काव्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास है। हिन्दी में यह पहला यथार्थवादी नाटक है जो बाह्य और आंतरिक यथार्थ के अन्तर्द्वन्द्व को संवेदनशीलता के साथ देखता है। घटनाएँ, पात्र और भाव इसमें इस प्रकार रखे गये हैं कि वे अपने आप में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं। निस्संदेह हिन्दी नाटक के परिप्रेक्ष्य में, भाववस्तु और रूपबंध दोनों के स्तर पर 'आषाढ़ का एक दिन' ऐसा पर्याप्त, सघन, तीव्र और भावोदीप्त लेखन प्रस्तुत करता है जैसा हिन्दी नाटकों में कम ही हुआ है। इसमें भाव और स्थिति की गहराई में जाने का प्रयास है और पूरा नाटक एक साथ कई स्तरों पर प्रभावकारी है। इसमें बिंबों के प्रभावी नाटकीय प्रयोग के साथ-साथ शब्दों की अपूर्व मितव्ययिता भी है। भाषा में ऐसा नाटकीय काव्य है जो हिन्दी नाटकीय गद्य में अभूतपूर्व है। हिन्दी के अन्य ढेरों तथाकथित ऐतिहासिक नाटकों से 'आषाढ़ का एक दिन' इसलिए मौलिक रूप से भिन्न है कि इसमें अतीत का न तो पुनरुत्थानवादी गौरवगान है और न भावुकता पूर्ण अति नाटकीय स्थितियाँ रचने का प्रयास किया गया है। यह सही अर्थों में आधुनिक नाटक की शुरुआत का सूचक है।''

यह वही दौर था जब एक तरफ़ हबीब तनवीर 'आगरा बाज़ार' नाटक लिख कर नाटक को इलीट क्लास से काट कर जन सामान्य से जोड़ने के लिये नज़ीर अकबराबादी की शेरों- शायरी और नज़्मों को अपना माध्यम बना रहे थे। शूद्रक के संस्कृत नाटक को 'माटी की गाड़ी' नाम से लोक से जोड़ कर आधुनिक रूप देने का प्रयोग कर रहे थे। वहीं राडा से प्रशिक्षण लेकर आने के बाद इब्राहिम अलकाज़ी भारतीय रंगमंच को आधुनिक बनाने के लिए रंगमंच में यथार्थवाद लाने पर ज़ोर दे रहे थे। महानगरों में रंगमंच को लेकर जिस तरह के प्रयास देखने को मिल रहे थे, उसका कोई न कोई ज़मीनी आधार तो ज़रूर था। सत्ता में जिस तरह की धारा बह रही थी, उसके असर से भी कोई इंकार नहीं कर सकता है। इस संदर्भ में प्रसिद्ध निर्देशक, अभिनेता और समीक्षक रामगोपाल बजाज ने जो कहा था, उस पर प्रकाश डालने की ज़रूरत है। वे कहते हैं, ''मेरा यह मानना है कि साहित्य और कला समसामयिक होते हुए भी जीवन के व्यापक प्रश्नों को उठाते हैं। इस दृष्टि से मोहन राकेश का कथा साहित्य एवं नाटक आटे - दाल की महंगाई, दल-बदल की राजनीति का साहित्य नहीं है। 'आषाढ़ का एक दिन' में भी महत्वाकांक्षा, रचनाधर्मिता, शरीरी और अशरीरी के बीच चेतना की प्रवृत्ति एवं पीड़न व्यापक है। मल्लिका प्रकृति एवं औदात्य की प्रतीक लगती है। कालिदास का आक्रोश और मोहभंग मात्र परिवेश से ही नहीं स्वयं अपनी समझ और प्रकृति के प्रति भी है जिसके साथ नाटक के अंत में वह एक और यात्रा का आरम्भ करता है। कालिदास के चाहे बिना मल्लिका का औदात्य, आत्मदान अकेला छूट जाता है। अनजान मातुल बाह्य सामाजिक संक्रांति के मूल्यों की पंगुता का प्रतीक बन सके, ऐसी कोशिश है– मैं आभारी हूँ कि श्री बंसी कौल मेरी सोच से सहमत हैं। शैली की दृष्टि से आधुनिक चाक्षुष बिंबों के साथ भाषा के शब्दों में जो व्यंजक बिंब हैं, वे ही सोना हैं। राकेश जी की रचनाओं में मुझे इसकी सिद्धि के दर्शन हुए हैं।''

ऐसा नहीं है कि मोहन राकेश का यह नाटक आज भी इसलिए जीवंत है कि यह कालिदास और मल्लिका के प्रेम को सघन रूप से लाता है। कहीं-कहीं कालिदास के साहित्य और संस्कृति का सत्ता के साथ जो द्वंद्व है, वो भी एक कारण है जिससे आज भी हर कोई टकराता है। कालिदास के बहाने सत्ता के अदृश्य चेहरे को भी इस नाटक में लाने का प्रयास किया गया है। इस नाटक के माध्यम से आटे-दाल की महंगाई और सत्ता पाने की जोड़-तोड़ को भी व्यक्त करना इस नाटक की प्राथमिकता नहीं हैं। लेकिन नाटक समसामयिकता को भी नज़रअंदाज़ नहीं करता है। बिंबों और प्रतीकों के माध्यम से नाटक के अंक एक से लेकर तीन तक मंच सज्जा और संवादों से कालिदास और मल्लिका की आर्थिक स्थिति का सटीक चित्रण हुआ है। विशेष कर मल्लिका की आर्थिक स्थिति में जो गिरावट चित्रित होती है, दरअसल वह अतीत का नहीं समसामयिक सामाज का जीवंत चित्रण है। अंक एक में मंच सज्जा का जो उल्लेख है उसमें मल्लिका का जो घर है, उसमें चूल्हा, कांसे के बरतन, कुंभ, लकड़ी का आसन सब व्यवस्थित ढंग से सहेज कर रखे हुए हैं। अंक दो में

कुछ वर्षों के अनंतर उसी दृश्य में प्रकोष्ठ की स्थिति में पहले से कहीं अंतर आ गया है। लिपाई कई स्थानों से उखड़ रही है। गेरू से बने स्वस्तिक, शंख और कमल अब बुझे- बुझे से हैं। चूल्हे के पास पहले से बहुत कम बरतन हैं। कुंभ केवल दो हैं और उन पर ऊपर तक काई जमी है। आसन के निकट एक टूटा मोढ़ा है। चूल्हे के निकट कोने में बंधी रस्सी से लटक रहे वस्त्र फटे हैं और उनपर जगह- जगह टाँकियाँ लगी हैं। अंक तीन जिसमें कुछ और वर्षों के बाद की मंच सज्जा है उसमें पहले से बहुत अंतर दिखाई देता है। संकुचन जर्जर और अस्त-व्यस्त है। कुम्भ केवल एक है और उसका भी कोना टूटा है। दीवारों पर से स्वस्तिक आदि के चिन्ह लगभग बुझ चुके हैं। चूल्हे के पास केवल दो - एक बरतन हैं, जिन पर स्याही चढ़ी है। एक कोने में फटे - मैले वस्त्र एकत्रित हैं। तात्पर्य कि नाटककार ने तीनों अंकों में जो मंच सज्जा के बारे में सूक्ष्मता से उल्लेख किया है, उसका मतलब समय के अनुसार मल्लिका की केवल आर्थिक दशा को दिखाना भर नहीं था बल्कि उस दौर में आर्थिक दशा में जो क्षरण आया, उस तरफ़ भी दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करना था।

सन् 1958 में यह नाटक प्रकाशित हुआ था। इसका मतलब है आज़ादी के आठ - दस वर्ष पूर्व मोहन राकेश के मन में इसको लेकर कोई खाका बना होगा या सत्ता के नेतृत्व से उन्होंने जो सपने संजोये होंगे, उसी को लेकर नाटक का ताना - बाना बनाना शुरू कर दिया होगा। पचास का दशक ऐसा था जिसने अपने समय के सभी रचनाकारों को उस दौर के हालात पर कुछ-न-कुछ लिखने के लिये विवश किया था। द्वितीय महायुद्ध से उपजी विभीषिका, तबाही, कुंठा, निराशा ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्यकारों को संवेदित किया तो राष्ट्रीय स्तर पर आज़ादी के बाद नये प्रगतिशील, समाजवादी नेतृत्व से संयोए सपनों के टूटने से सत्ता के प्रति लोगों का मोहभंग हुआ। यह सब कहानी, कविता और नाटक में किसी न किसी रूप में उभर कर आया। मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को भी इसी संदर्भ में देखने की आवश्यकता है। इसे केवल प्रेम, समर्पण, त्याग के दायरे तक सीमित कर राजनीति से परे रख देंगे तो इसके साथ सही ढंग से न्याय नहीं कर पायेंगे।

रामगोपाल बजाज की तर्ज़ पर कहें तो ' आषाढ़ का एक दिन' भले आटे - दाल की महंगाई, दल बदल की राजनीति का नाटक नहीं है लेकिन यह सत्ता और संस्कृति के अन्तर्द्वन्द्व का नाटक है, इस तथ्य से कोई इंकार नहीं कर सकता है। भले सत्ता और संस्कृति का अन्तर्द्वन्द्व प्रकट रूप में न दिखता हो लेकिन चरित्रों के बीच जिस तरह का परस्पर द्वंद्व नाटक में संवादों और घटनाओं के माध्यम से दिखाई देता है, उसके जड़ में सत्ता ही है। नाटक के प्रारंभ होने के कुछ ही क्षणों के बाद अंक एक में जहां मल्लिका का घर है, बाहर कुछ दूर कोलाहल और घोड़ों की टापों का शब्द सुनाई देता है। अंबिका उठ कर झरोखे के पास चली जाती है। मल्लिका क्षण भर बैठी रहती है, फिर जाकर झरोखे से देखने लगती है। टापों का शब्द पास आकर दूर चला जाता है–

मल्लिका : ये कौन लोग हैं माँ ?

अंबिका : संभवतः राज्य के कर्मचारी हैं।

मल्लिका : ये यहाँ क्या कर रहे हैं ?

अंबिका : जाने क्या कर रहे हैं ! ... कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई देती हैं। और जब भी दिखायी देती है, कोई न कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध की सूचना आती है तो कभी महामारी की। (*लंबी सांस लेती है*) पिछली महामारी में जब तुम्हारे पिता की मृत्यु हुई, तब भी मैंने ये आकृतियाँ यहाँ देखी थीं।

मल्लिका : (*सिर से पैर तक सिहर जाती है*) परंतु आज ये लोग यहाँ किसलिए आए हैं ?

अंबिका : न जाने किसलिए आये हैं !

मल्लिका के घर से दूर गुज़रता हुआ कोलाहल, घोड़ों की टापों की ध्वनि और दिखने वाली आकृतियाँ केवल नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए नहीं लायी गई हैं। ये इशारा करती हैं कि ग्राम्य जीवन में सत्ता का प्रवेश होने लगा है। दोनों की संस्कृति भले अलग है लेकिन परस्पर निकट आने पर एक- दूसरे से अप्रभावित रहेगी, ये संभव नहीं है। दन्तुल जो सत्ता का प्रतिनिधि है, उसके वाण से आहत हरिण को जब कालिदास उपचार हेतु मल्लिका के घर लाता है तो परस्पर जो वाद- विवाद होता है, उससे ज़ाहिर हो जाता है कि सत्ता की संस्कृति क्या है और ग्राम्य यानी सामान्य जन की संस्कृति क्या है। हरिणों के आखेट को कालिदास जब अपराध की श्रेणी में लाता है तो दन्तुल प्रश्न करता है कि राजपुरुष के अपराध का निर्णय ग्रामवासी करेंगे ? क्या ये अपराध और न्याय का शब्दार्थ भी जानते हैं ? कालिदास और दन्तुल में जिस तरह से संवाद होते हैं, ऐसा लगता है जैसे सामान्य जन और सत्ता के बीच, दो वर्गों, दो संस्कृतियों के बीच टकराहट हो रही हो। वार्ता के क्रम में जब दन्तुल को पता चलता है कि जिससे वह हरिण शावक के लिए तर्क कर रहा है वे 'ऋतु संहार' के लेखक कालिदास हैं तो चकित रह जाता है। वह बताता है कि उज्जयिनी की राज्य सभा का प्रत्येक व्यक्ति 'ऋतु संहार' के लेखक कवि कालिदास को जानता है। सम्राट ने स्वयं 'ऋतु संहार' पढ़ा है और उसकी प्रशंसा की है। इसलिए आज उज्जयिनी का राज्य 'ऋतु संहार' के लेखक का सम्मान करके उन्हें राजकवि का आसन देना चाहता है। आचार्य वररुचि

इसी उद्देश्य से उज्जयिनी से यहाँ आए हैं। राजकीय सम्मान की बात सुन कर कालिदास को तनिक भी प्रसन्नता महसूस नहीं होती हैं। वह तुरंत अपनी प्रतिक्रिया देता है कि वह राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं है। वह राजकीय सम्मान के पक्ष में नहीं है। वह अपनी ज़मीन को छोड़ कर उज्जयिनी जाने के पक्ष में नहीं है। कालिदास के इस निर्णय से उनका परिवार सहमत नहीं है। यहाँ तक कि मल्लिका भी कालिदास के इस निर्णय को हठ मानती है। निक्षेप तो यहाँ तक कह देता है कि कालिदास अपनी भावुकता में भूल कर रहे हैं कि इस अवसर का तिरस्कार करके वे बहुत कुछ खो बैठेंगे। योग्यता एक चौथाई का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है। कालिदास को राजधानी अवश्य जाना चाहिए।

देखा जाए तो अंक एक में कालिदास जो राजधानी से दूर, सत्ता से अलग रहकर साहित्य सृजन कर रहा है, उसे सत्ता से संबद्ध होना चाहिए या नहीं, इस डिबेट को सशक्त संवादों के माध्यम से रखा गया है। अर्थात् किसी संस्कृतिकर्मी को सत्ता से जुड़ना चाहिए या नहीं इस विषय को मल्लिका, अंबिका, मातुल, विलोम और निक्षेप के माध्यम से रखा गया है। यह प्रश्न या संशय केवल कालिदास का नहीं है, न उस काल का जब कालिदास थे। यही सवाल इस नाटक के लिखे जाने के समय भी सभी रचनाकारों के सम्मुख था। जब ये मुल्क आज़ाद नहीं था, संस्कृतिकर्मियों के सम्मुख ये संकट नहीं था कि किसके विरुद्ध लिखना है ? उनके सम्मुख दुश्मन स्पष्ट था। देश जो परतंत्र था, मुल्क ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उपनिवेश था, उस वक्त जो भी लिख रहा था चाहे वो राष्ट्रवादी हो या प्रगतिशील या किसी भी धारा से संबद्ध न हो, स्वतंत्र होकर सृजन कार्य कर रहा था, उसके सम्मुख कोई दुविधा नहीं थी। एक बहुत बड़ी संख्या अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध थी। हो सकता है कि कुछ बरतानिया हुकूमत के साथ भी हों, लेकिन जो थे उनका हश्र क्या हुआ, किसी से छिपा नहीं है। आज उन्हें कोई याद करने वाला नहीं है। हमेशा से संस्कृतिकर्मी प्रतिपक्ष की भूमिका में रहे हैं और जो रहे हैं, उनकी कला व साहित्य ज़िंदा रही है।

जिस दौर में मोहन राकेश इस नाटक को लिख रहे थे, कालिदास के माध्यम से इसी संशय को नाटक में उतार रहे थे। भले इस विचार को नाटक में उतारने के लिए मोहन राकेश ने कालिदास और मल्लिका के प्रेम को आधार बनाया है लेकिन परोक्ष में कहीं न कहीं कालिदास का सत्ता और सृजन का अन्तर्द्वन्द्व ही रहा है, जिसकी परिणति सत्ता से मोहभंग के रूप में दिखती है। भारत जब स्वाधीन हुआ, कांग्रेस के नेतृत्व में सरकार बनी। जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्र भारत के पहले प्रधानमंत्री बने। कांग्रेस स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई में अग्रिम पंक्ति में थी, बड़े-बड़े नेताओं की इसमें भागीदारी थी लेकिन इस पार्टी का चरित्र एक बुर्जुआ लोकतांत्रिक दल के रूप में था। वैसे पार्टी के अंदर नेहरू की एक दूसरी छवि थी। वे मिज़ाज से एक वामपंथी और समाजवादी रुझान के नेता समझे जाते थे। आज़ादी के पहले भारत के कम्युनिस्टों के निकट संपर्क में थे। यही कारण था कि थोड़ी असहमतियों के बावजूद भी उस समय के राजनेताओं, विचारकों, लेखकों और कला-संस्कृतिकर्मियों का एक बड़ा समूह कई मुद्दों पर मंच पर एक साथ एकजुट था। सालों तक एक डिबेट संस्कृतिकर्मियों के बीच चलती रही कि सत्ता के साथ कैसा संबंध रहे ? किस सीमा तक सहयोगात्मक संबंध निभाना है ? और अगर विरोध करना है तो विरोध का स्वरूप क्या रहेगा ? संस्कृतिकर्मियों के एक बड़े वर्ग का यह मानना था कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद देश जिस रूप में कांग्रेस को मिला है, उसे वक्त दिया जाना चाहिए। अगर नेहरू की प्रगतिशीलता पर भरोसा है तो उनका समर्थन करना देश-हित में होगा। अगर समय से पहले विरोध शुरू कर देंगे तो नेहरू कमज़ोर होंगे। इसका पूरा फ़ायदा दक्षिणपंथी शक्तियों को मिलेगा। इससे समाजवादी सोच को क्षति पहुँचेगी और सांप्रदायिक व सामंती ताक़तों को बल मिलेगा। अतएव प्रतिगामी पार्टियों को सत्ता के क़रीब आने से रोकने के लिए फ़िलहाल सत्ता के प्रति विरोध की मुद्रा में आने के बजाए सत्ता के क़रीब आने की ज़रूरत है। ज़रूरत पड़ने पर उनको सहयोग भी देना है। मिलजुल कर एक जन-संस्कृति को विकसित करने की दिशा में सत्ता का हिस्सा बनने की ज़रूरत हो तो हिस्सा बने। इसी सोच के तहत प्रगतिशील धारा के लेखकों, कलाकारों, फ़िल्मकारों का एक बड़ा हिस्सा सत्ता के संसर्ग में आया। वे भावावेश में नहीं आये थे, उनके आने और सत्ता को सहयोग देने के पीछे उनका अपना एक तर्क था।

उज्जयिनी से आये लोगों ने कालिदास के सम्मुख जो प्रस्ताव रखा था, उसे इस संदर्भ से जोड़ कर देखने की आवश्यकता है। उस वक्त संस्कृतिकर्मियों के बीच जो द्वंद्व था, उससे मोहन राकेश अनभिज्ञ नहीं थे। निक्षेप की बातों से असहमत हो कर कालिदास नाराज़ होकर जगदंबा मंदिर में आसनरत हो जाते हैं। यह संस्कृतिकर्मियों की उसी दुविधा वाली मनोदशा को दर्शाता है। उस वक्त भी संस्कृतिकर्मियों का एक वर्ग ऐसा था जो सत्ता के क़रीब जाने से असहमत था। वह सत्ता की उन नीतियों की कड़ी आलोचना करता था जिसके तहत लेखकों, कलाकारों पर दमनात्मक कार्रवाई की गई और इनके कार्यक्रमों-सांस्कृतिक प्रदर्शनों पर प्रतिबंध लगाए गए।

सत्ता का चरित्र अगर जनपक्षीय न हो तो वह पहला काम यह करती है कि आस-पास के लोगों को लीलना शुरू कर देती है। जो इस ख़ुशफ़हमी में रहते हैं कि अपनी उपस्थिति या अपनी विचारधारा से सत्ता को अपने अनुसार बदल देंगे, कुछ दिनों बाद उन्हें लगने लगता है कि वे ख़ुद बदल गये हैं। मल्लिका को लगता था कि उज्जयिनी जाने के बाद कालिदास की प्रतिभा में प्रखरता आएगी, संभवतः उसके प्रभाव से राजसत्ता के रूप में बदलाव आएगा, लेकिन अंक दो में कालिदास का जो रूप देखते हैं वो कहीं से आम जनमानस के हित में नहीं दिखता है। जिस ज़मीन से उनका समस्त साहित्य उत्पन्न हुआ था, उसके प्रति अब ज़रा भी रुचि नहीं है। बल्कि संगिनी, रंगिणी, अनुस्वार, अनुनासिक और प्रियंगुमंजरी जैसे पात्र मल्लिका के घर में आकर राजसत्ता की संस्कृति का भौंडा प्रदर्शन करते हैं जो दर्शाता है कि उनकी नज़र में जनता की संस्कृति की क्या औक़ात है ! उनकी नज़र में जन संस्कृति का क्या मूल्य है ! कालिदास सब कुछ जानते हैं, जो कुछ हो रहा है, उनके संज्ञान में है, लेकिन वे कुछ नहीं कर पा रहे हैं। किंकर्तव्यविमूढ़ की दशा में है।

मोहन राकेश ने उस दौर में सत्ता में संलिप्त संस्कृतिकर्मियों को देखा था, ये भी देखा था कि उन्हें अपने अस्तित्व के लिए सत्ता के साथ किस हद तक गिर कर समझौते करने पड़ते थे, सिद्धांत और वैचारिकी को ताख पर रख कर सत्ता के प्रोपेगंडा हेतु भांड की भूमिका में आ जाना पड़ता था। इस कड़वे सत्य को वे नाटक में अनदेखा नहीं कर पाये। वास्तविकता को नाटक में उतारा। राजधानी जाकर कालिदास ने गुप्त वंश की राज दुहिता से विवाह किया। काश्मीर का शासन संभालने के बाद जिस 'कालिदास' नाम से उनकी साहित्यिक पहचान थी, बदल कर 'मातृगुप्त' कर लिया। उनका अधिकतर समय नृत्य, संगीत व गणिकाओं के साथ व्यतीत होने लगा था। सत्ता के क़रीब आने पर इनका संसर्ग स्वाभाविक है। कालिदास का इनसे लिप्त होना अस्वाभाविक नहीं था। मोहन राकेश ने नाटक में इस प्रवृत्ति को छिपाया नहीं है। कालिदास के साथ जो घटित हुआ, अंक दो में विस्तार से लिखा है। जिस संस्कृति की सीढ़ियों के रास्ते कालिदास सत्ता के शीर्ष तक पहुंचा, उस संस्कृति से राजसत्ता को कोई लेना-देना है। उस संस्कृति के परिमार्जन और उत्थान के लिए उन्हें कुछ नहीं करना है, उस संस्कृति का केवल महिमामंडन करना है। उसे इतिहास की चीज़ बना देना है।

लेकिन सच्चाई ये है कि जो ज़मीन से जुड़ा होता है, जिसकी रचनाओं का स्रोत जीवंत समाज होता है, उसके ज़मीर को सत्ता बहुत दिनों तक अपनी माया में लिप्त करके नहीं रख सकती। अंततः उसकी नींद टूटती है। उसका मोहभंग होता है और वापस लौटना उसकी परिणति भी होती है। ऐसे एक दो नहीं, दर्जनों उदाहरण मिल जाते हैं। ऐसे लोग जिस सपने को लेकर सत्ता के करीब गये थे, उन्हें एक दिन लौटना पड़ा था या उनके सम्मुख ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी गयी थी कि उनके सामने वहाँ से निकलने के अलावा कोई विकल्प भी नहीं बचा था। कालिदास का लौटना भी कुछ इसी तरह का है। इतिहास में इसका उल्लेख है कि नहीं, पता नहीं, लेकिन छठे - सातवें दशक के जो कालिदास थे, उनकी तो यही कथा है। या तो ऐसे हालात उत्पन्न कर दिए गए या अंधेरे में दबे पाँव वहाँ से बाहर निकल गये। निकल कर वे कहाँ गए किसी को पता नहीं। कुछ कालिदास की तरह वापस फिर से अथ से आरंभ करने मल्लिका के पास लौटे तो थे, लेकिन समय किसकी प्रतीक्षा करता है ! बिजली के चमकने और मेघ-गर्जन के बीच कालिदास वापस लौट जाता है। कहाँ चला गया, क्या किसी को पता है ? किसी को जानने की इतनी चिंता भी नहीं है।

मोहन राकेश के इस कालजयी नाटक को आज भी इसलिए ज़्यादा पसंद किया जाता है क्योंकि पाठक व दर्शक कालिदास और मल्लिका के प्रेम को आज भी किसी न किसी रूप में अंतरंगता से महसूस करता है। लेकिन कालिदास की संस्कृति और सत्ता के बीच जो अंतरसंबंध थे, क्या कोई उसको विश्लेषित करने का प्रयास करता है ? पूरा नाटक जो द्वंद्वों-अंतर्द्वंद्वों से भरा है, उसे सत्ता और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में भी देखने को उत्सुक होता है ? कभी-कभार इस नज़रिये से भी देखने की ज़रूरत है। इससे नाटक पारलौकिक नहीं, लौकिक नज़र आने लगता है। तब यह केवल इतिहास का कोई पन्ना नहीं, आज की कोई कविता दिखने लगता है, जिसे पढ़ा भी जा सकता है और कहीं भी खड़ा होकर लोगों को सुनाया भी जा सकता है। यही नाटक की सार्थकता है और यही इसकी समसामयिकता भी है।

राजेश कुमार
नाटककार एवं रंग-समीक्षक
सम्पर्क: एस-301, ला रॉयल सोसाइटी
सी आई एस एफ़ रोड, निकट कनावनी पुलिया
इंदिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद - 201014
मो. 9453737307
ईमेल: rajeshkr1101@gmail.com

लहरों के राजहंस में द्वंद्व का प्रश्न

मधु कौशिक

जब कोई व्यक्ति समय के प्रवाह के विरुद्ध आचरण करता है तो उसे संघर्ष, अंतर्द्वंद्व और घुटन का सामना करना पड़ता है। मोहन राकेश की नाट्यकृति ' लहरों के राजहंस ' के मूल में यही संघर्ष और पार्थिव-अपार्थिव का द्वंद्व विद्यमान है । इतिहास पर आधारित इस नाटक में नंद, सुंदरी और बुद्ध के माध्यम से व्यक्ति की द्वंद्वात्मक स्थिति को अभिव्यक्ति मिली है । नाटक में व्यक्ति की उस कशमश, उलझाव की स्थिति को चित्रित किया गया है जहाँ उसे एक ओर पार्थिवता से परे अलौकिक आकर्षण खींचते हैं तो दूसरी ओर भौतिकता उसे अपने तक समेटने की कोशिश करती है। सुन्दरी इस नाटक में पार्थिवता के प्रतीक के रूप में उभरी है जबकि बुद्ध अपार्थिव पथ पर अग्रसर हैं और नंद न तो पार्थिवता को तिलांजलि दे पाता है, और न ही अपार्थिवता को अपना पाता है, इसलिए संशयग्रस्त है।

नाटककार मोहन राकेश के अनुसार– "मनुष्य उन सब कुछ की ओर आकर्षित होता है, जिसे आनंद कहते हैं, और साथ ही ऐसी किसी चीज़ की ओर भी समान रूप से आकर्षित होता है जिसे स्पष्ट प्रतीकों से प्रकट नहीं किया जा सकता, फिर भी वह उसे तनाव की स्थिति में ले जाने के लिए उतनी ही प्रभावी शक्ति है। हम इसे उसकी 'तलाश' कहें। आज की दुनिया में हम अपने भीतर अधिकाधिक विभाजित होते जा रहे हैं क्योंकि प्रत्येक आदमी कहीं-न-कहीं बुद्ध होता जा रहा है अर्थात् उसकी यह अंदरूनी तलाश किसी चुने हुए व्यक्ति या मन की किसी तरंग तक सीमित नहीं है कि वह किसी दिन संसार को त्यागकर प्रकाश की खोज में निकल पड़ता है। हम में से हरेक के भीतर यह कीड़ा, यानी इस तलाश की इच्छा मौजूद है। दूसरी ओर वह शक्ति है जो हमें अपनी ज़िंदगी में सर्वाधिक भौतिक सुखों का प्रयोग करने के लिए बाध्य करती है। यह ऐसी दुविधा की स्थिति है जिसमें हममें से हरेक बंटा हुआ है। यह तलाश मनुष्य में उतनी ही यथार्थ है जितनी कि किसी बुद्ध में और मनुष्य में भौतिक सुख की तलाश भी उतनी ही यथार्थ और सच्ची है जैसे कहें कोणार्क की किसी मूर्ति में। "[1] अतः नाटककार राकेश अपनी इस नाट्यकृति में आज के मनुष्य की द्विविधात्मक स्थिति को चित्रित करना चाहते थे। उन्होंने इस नाटक में इतिहास - कथा का उपयोग इसलिए किया क्योंकि इस कथा के माध्यम से विशेष प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती थी। बुद्ध और नंद की पत्नी सुंदरी के बीच होने वाले संघर्ष का भी राकेश उपयोग करना चाहते थे। और यही दो बातें उस स्थिति का अर्थात् दो शक्तियों के बीच विभाजित होने की स्थिति का प्रतीक बन गईं। वस्तुतः अपने भीतर के इसी संघर्ष को राकेश चित्रित करना चाहते थे।

नाटककार राकेश ने ऐतिहासिक परिवेश में आज के दुविधाग्रस्त मानव की स्थिति को अभिव्यक्ति प्रदान की है । आधुनिक जीवन मूल्यों का उद्घाटन करने की राकेश ने सफल चेष्टा की है। नंद और सुंदरी जैसे पात्रों के माध्यम से चेतन मन के अंतर्द्वंद्व और श्यामांग के माध्यम से अचेतन मन के उन्माद को व्यक्त किया गया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच संशयग्रस्त मानव कोई दिशा निश्चित नहीं कर पाता। भोग और योग की दिशा में झूलता रहता है। स्वयं नाटककार की चेतना भी इस दुविधा से बच न सकी। कभी इसे एकांकी, कहानी के रूप में लिखा तो कभी नाटक के रूप में प्रकाशित होने पर भी अनेक संशोधन परिवर्तन किए किंतु फिर भी अनुभव करता रहा, "कुछ ऐसा है जो इस नाटक में होना चाहिए था और नहीं है। "[2] गहन संवेदना को समेटे हुए यह नाटक अत्यंत सफल नाटक है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के अनुसार- "उनके किसी भी नाटक में समसामयिक परिस्थितियों, समस्याओं का यथार्थ चित्रण मुख्य नहीं है। बल्कि उनके बीच उलझते-टूटते-बिखरते आज के मनुष्य की पीड़ा और मानसिक द्वंद्व ही मुख्य है ..... ऐतिहासिक और सुदूर अतीत के कथानक को राकेश ने अपनी सार्थक कल्पना, गहरी अनुभूति से उठाया है। "[3] वस्तुतः इस नाटक में आधुनिक मनुष्य की नियति और आधुनिक जीवन के घात-प्रतिघातों में जीने वाले व्यक्ति के द्वंद्व को मुखरित किया गया है।

आध्यात्मिक आकर्षण और भौतिक ऐषणाओं के बीच जीता व्यक्ति

अपार्थिव मूल्य सदैव से ही मानव के आकर्षण का केंद्र रहे हैं। नंद का आकर्षण-अपकर्षण द्वंद्व, सुंदरी और बुद्ध दोनों के प्रति झुकाव बना रहना, नंद के जीवन की महत्वपूर्ण घटना है। उसे चैन न तो मुग्ध कामुक प्रेमी के रूप है, न निवृत्तिवादी भिक्षु के रूप में। वह द्विविधाग्रस्त मानसिकता से पीड़ित हो रहा है। नंद प्रमुख पात्र होते हुए भी एक संशयग्रस्त व्यक्ति है, एक प्रश्नचिन्ह है। नाटककार के शब्दों में– "नाटक का मूल द्वंद्व पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों का द्वंद्व है। सुंदरी, पृथ्वी के प्रतीक में, पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बांधे रखना चाहती है– पुरुष बंधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूंढ़ना चाहता है। बुद्ध पार्थिवता को तिलांजलि देकर उस उपलब्धि की ओर जाते हैं– नंद तिलांजलि नहीं दे पाता, नहीं देना चाहता। उसकी खोज है पार्थिवता के अंदर से अपार्थिव को पाने की।" [4] नंद की आंतरिक आवश्यकता दो भिन्न प्रकृतियों से संबंधित है इसलिए वह द्वंद्व से पीड़ित है।

अश्वघोष के 'सौन्दरानंद' में नंद के संबंध में उल्लेख है कि नंद को एक ओर सुंदरी का अनुराग खींच रहा था तो दूसरी ओर गौतम बुद्ध का श्रेष्ठतम खींच रहा था। अनिश्चय की इस स्थिति में वह किस ओर जाए, इसका निर्णय कर पाने में नंद असमर्थ था। उसकी अवस्था तरंगों पर दोलायमान होने वाले राजहंसों की-सी हो गई थी। उसकी अन्तश्चेतना के दो कोण, सुंदरी और बुद्ध हैं। उसके लिए किस ओर अधिक आकर्षण है, उसका गंतव्य दोनों में से कौन सा है ? इस बात का निर्णय वह अंत तक नहीं कर पाता। व्यक्ति के मन की स्थिति भी नंद के समानान्तर है। सुरेश अवस्थी के अनुसार– "लहरों राजहंस' में एक ऐसे कथानक का नाटकीय पुनराख्यान है जिसमें सांसारिक सुखों और आध्यात्मिक शांति के पारस्परिक विरोध तथा उसके बीच खड़े हुए व्यक्ति के द्वारा निर्णय लेने का अनिवार्य द्वंद्व ही निहित है। चुनाव की यातना ही इस नाटक का कथा बीज और उसका केंद्र बिंदु है।" [5] नंद जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना चाहता है। इसलिए वह भोग और विराग दोनों जीवन दृष्टियों को अपने अंदर समेटना चाहता है। नंद स्वयं कहता है कि "एक बात का मैं कभी निश्चय नहीं कर पाता।" [6] आज व्यक्ति भी निश्चय करने की स्थिति में नहीं है। नंद एक ओर भौतिकता के वशीभूत होकर सुंदरी के अखंड रूप पर मोहित है तो दूसरी ओर भिक्षुओं के स्वरों को सुनकर वह विह्वल हो उठता है। आध्यात्मिक आकर्षण उसे अपनी ओर खींचता है। अलका के मुख से गौतम बुद्ध के द्वार पर आने की सूचना और दो बार भिक्षा की याचना करने पर भी भिक्षा प्राप्त न होने की ख़बर नंद सुनता है तो वह बुद्ध के विषय में सोचने लगता है। सुंदरी नंद की मनःस्थिति को भांपकर कहती है कि तुम सोच रहे हो कि "इसी समय जाना चाहिए, यही न ? तो जाइए न ! मुझे दिए हुए वचन के कारण विवशता का अनुभव करते हैं? यह विवशता नहीं रहेगी। ..... मैं अपनी ओर से आपको वचनमुक्त कर रही हूँ।"[7] अतः सुंदरी के पास होने पर नंद बुद्ध के पास जाने के लिए व्याकुल है। दूसरी तरफ़ जब वह बुद्ध के पास क्षमा याचना करने गया तो लौटा भिक्षु बनकर। उस समय नंद स्वीकार करता है– " अंतर पड़ता यदि मेरा हृदय बदल जाता, आँखें बदल जातीं। मेरे हृदय में तुम्हारे लिए अब भी वही अनुराग है, आँखों में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।" [8] नंद इन दोनों प्रवृत्तियों में जीने को विवश है। वह सुंदरी को विश्वास दिलाना चाहता है कि वह भिक्षु बनकर भी आंतरिक रूप से परिवर्तित नहीं हुआ है। अतः नंद को आध्यात्मिक आकर्षण बुद्ध के पास ले जाता है। परंतु सुंदरी के पास लौट आना इस बात का सूचक है कि वह आज भी भौतिक ऐषणाओं में जीने वाला व्यक्ति है।

नाटककार ने नंद के माध्यम से आज के व्यक्ति की मनःस्थिति का चित्र उपस्थिति किया है। आज व्यक्ति के पास अनेक रास्ते हैं परंतु चयन की समस्या उसके समक्ष आकर खड़ी हो जाती है तो वह यह चुनाव नहीं कर पाता कि किस पथ पर चले, यही द्वंद्व का कारण है। डॉ. रमेश गौतम के अनुसार– ''नंद प्रकारान्तर से उस आधुनिक व्यक्ति का प्रतीक है जो जीवन को किसी भी आवरण में से स्वयं छूकर मौलिक रूप से देखना चाहता है। परिस्थितियों और पद्धतियों ने आज के मनुष्य को उस बिंदु पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ वह विभाजित होने के लिए मजबूर है। आज के व्यक्ति की यह सच्चाई है कि वह किसी एक पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकता।'' [9] इस नाटक में नंद भी एक पद्धति को स्वीकार नहीं कर पाता। आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों पद्धतियों के झूले में झूलता हुआ द्वंद्वग्रस्त है। नंद की ही भांति आज का व्यक्ति सांसारिक सुखोपभोग की भी आकांक्षा रखता है और अलौकिक तत्व की प्राप्ति भी चाहता है। डॉ. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार– ''नंद की दुविधा में आधुनिकता का बोध है जो उसे प्रश्नचिन्ह बना डालता है। इंसान पहले भी शंकाओं से घिरता रहा है लेकिन शंकाओं का समाधान भी होता रहा है। नंद की शंकाओं का समाधान नहीं हो सकता इसलिए नाटक का अंत कितने-कितने बिंदु की खोज से होता है।'' [10] नंद खोजना चाहता है कि वह कहाँ,

किस बिंदु पर जीने के लिए है, वह किसी एक बिंदु पर नहीं जी सकता। इसी कारण अभिशप्त है।

नंद के मन में अशांति और व्याकुलता, भिक्षुक बनने के बाद भी विराजमान है। उसका संशय, अंतर्द्वंद्व कम नहीं हो पाता। केश कटने के बाद मृत मृग को देखना और व्याघ्र-युद्ध उसकी दुविधा को दर्शाता है। व्याघ्र से उलझने को वह आत्म-विनाश की प्रवृत्ति कहता है और फिर स्वयं ही आत्म- रक्षा के लिए उससे लड़ना यह उसकी दूसरी प्रवृत्ति है। इस प्रकार नंद कहता है कि, "आत्म-विनाश और आत्म-रक्षा, दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक साथ मैं कैसे जिया और क्यों? और उस तरह जीकर क्या सुख मिला? और क्या यह सुख की ही खोज थी जिसने उस तरह जीने के लिए विवश किया?"[11] अतः 'विवशता' नंद के चरित्र का एक अंग बन चुकी है। यही 'विवशता' आज के मनुष्य की भी है। नाटककार ने मृग का प्रकरण एक संकेत रूप में रखा है। वह जीवित रहने के लिए संघर्ष करता है और अपनी ही क्लान्ति से मर जाता है। मृत मृग नंद की व्याकुलता का कारण इसलिए बन गया क्योंकि "यह परिणति मृग की ही नहीं, किसी की भी हो सकती है। नंद की दृष्टि से उसकी भी।" [12] थकान से मरे मृग को देखकर नंद भी थकावट का अनुभव करता है। उसकी यह थकान तन की इतनी नहीं जितनी मन की है। नंद की स्थिति तरंगों पर तैरते राजहंस जैसी रहती है, जिसे परिस्थितियां जिस ओर धकेलती हैं, वह उसी ओर चल देता है। नंद के चले जाने पर सुंदरी भी संशयग्रस्त है, वह कहती है– "क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते ? और जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण..... क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?"[13] रूपगर्विता सुंदरी को इस बात का विश्वास था कि भौतिक ऐषणाएँ नंद को आसक्त कर वापस लौटा लाएंगी। परंतु जब नंद लौटकर नहीं आते तब सुंदरी अंतर्द्वंद्व से पीड़ित हो जाती है। वह सोचने पर मजबूर हो जाती है कि नंद आध्यात्मिकता की ओर तो अग्रसर नहीं हो गए हैं !

आधुनिक युग में मनुष्य द्वंद्व, अनिर्णय और अनिश्चय की स्थिति में जीने के लिए विवश है। उसके अंदर विभिन्न विचारधाराओं और भावों का द्वंद्व चलता रहता है। आधुनिक व्यक्ति के रूप में नंद भी स्वयं को कहीं दृढ़तापूर्वक स्थापित नहीं कर पाता। नाटककार के मत में– "सुंदरी और बुद्ध दो व्यक्ति या व्यक्तित्व नहीं, दो जीवन-दृष्टियाँ या दो Vital Forces हैं जिसके प्रभाव में उसका मन निरंतर आंदोलित है। अंत में उसके घर से चले जाने का कारण उसकी वितृष्णा है जो सुंदरी की बात ठीक

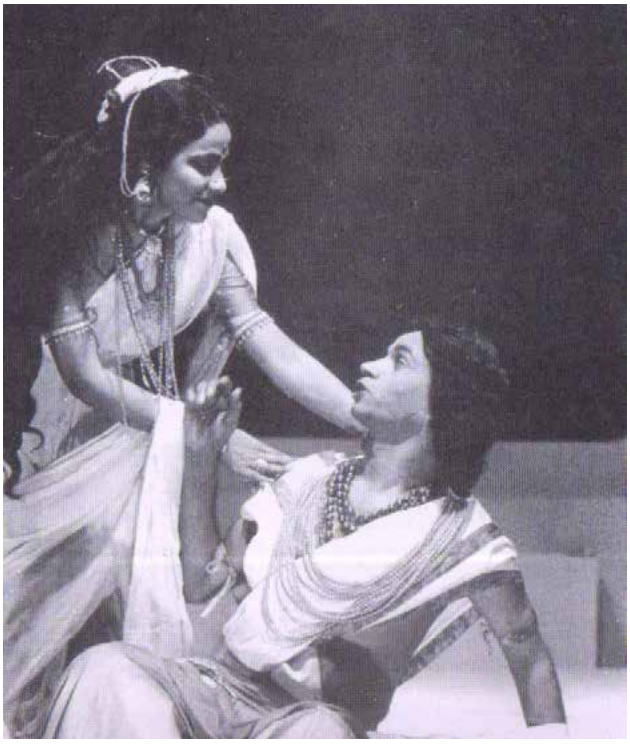

कीर्ति जैन द्वारा निर्देशित 'लहरों के राजहंस' की राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल की प्रस्तुति।

से न समझ पाने के कारण पैदा होती है। ..... इस तरह नाटक का अंत एक द्वंद्व की स्थिति में होता है, किसी परिणाम पर पहुँचकर नहीं।" [14] प्रतिरोधक क्षमता के अभाव के कारण नंद एक मार्ग चुनने में असमर्थ है। आध्यात्मिकता और भौतिकता, एक साथ दोनों स्तरों पर जीने की इच्छा उसे भीतर से तोड़ देती है। अतः नाटककार ने नंद के माध्यम से आज के व्यक्ति के द्विविधाग्रस्त जीवन के द्वंद्व को स्वर दिया है। व्यक्ति की आसक्ति और अनासक्ति के मध्य अंतर्द्वंद्व का मार्मिक चित्रण हुआ है।

अस्तित्व और अनस्तित्व का द्वंद्व

नाटककार मोहन राकेश ने अपनी नाट्यकृति 'लहरों के राजहंस' में पात्रों के माध्यम से व्यक्ति की अस्तित्व के प्रति जागरूकता को मुखरित किया है। आधुनिक युग व्यक्ति-अस्मिता की स्थापना का युग है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता चाहता है। राकेश के पात्रों में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्रबल भावना लक्षित होती है। सुंदरी अपने जीवन में किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं चाहती। उसका कहना है कि कोई भी षड्यंत्र उसे अव्यवस्थित नहीं कर सकता और अपने उद्वेग का वास्तविक कारण वह स्वयं को मानती है। किसी दूसरे को अपने उद्वेग का कारण बनने का अधिकार वह नहीं देती। उसके मत में– "किसी का कोई षड्यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता। ..... अपने उद्वेग का वास्तविक

कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को यह अधिकार मैं नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके। "[15] दूसरी ओर नंद भी अपनी स्वतंत्र सत्ता चाहता है। वह ऐसे व्यक्ति के रूप में जीना चाहता है जिसके अपने मूल्य, अपने मानदंड हैं। दूसरों की इच्छाओं के अनुरूप ढलकर वह जीना नहीं चाहता। अपने विश्वास के अनुसार जीना ही उसकी आकांक्षा है। केश कट जाने पर वह अनुभव करता है– "केश काटकर उन्होंने मुझे बहुत अकेला कर दिया है। घर से.... और अपने आपसे भी अकेला। जिस सामर्थ्य और विश्वास के बल पर जी रहा था, उसी के सामने मुझे असमर्थ और असहाय बनाकर फेंक दिया गया है। ..... लगता है मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती हैं। "[16] नंद, न तो बुद्ध के समान है जो तपस्या को ही जीवन का चरम सत्य मानते हैं और न ही सुंदरी के समान है जो मात्र भौतिक ऐषणा-पूर्ति को ही जीवन मानती है। नंद की अपनी विचारधारा है। उसका अस्तित्व, भौतिकवादी और आध्यात्मिक विचारधाराओं में कहीं खो गया है, जिसे वह खोजता रहता है।

राकेश ने इस नाटक में निजत्व और पर-आकांक्षाओं के अनुरूप आचरण करते अपना अस्तित्व खोते हुए व्यक्ति के द्वंद्व को मूर्त किया है। नंद को यह विश्वास है कि वह बुद्ध से क्षमायाचना कर वापस उसी रूप में लौट आएगा परंतु उसका विश्वास खंडित हो जाता है। बड़े भाई के सम्मान के कारण अपने केश काटे जाने पर भी वह चुप्पी साधे रहता है। और जब वह भिक्षुक बनकर सुंदरी के पास वापस लौटता है तो सुंदरी उसे 'दूसरा व्यक्ति' कहकर उसके विश्वास को नष्ट कर देती है। सुंदरी कहती है– ''वे नहीं आए अलका ! जो लौटकर आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा है ...। '' [17] नंद यह समझ नहीं पाता कि सुंदरी ने उसे दूसरा व्यक्ति क्यों कहा ? क्या मात्र केश कट जाने के कारण वह दूसरा व्यक्ति हो गया। सुषमा अग्रवाल के अनुसार– ''वह अपने अधूरेपन में रहता हुआ जिस पीड़ा को भोग रहा है वह एक ऐसे व्यक्ति की पीड़ा है जो चाहता कुछ है और करता कुछ है और हो जाता कुछ और है। ''[18] वास्तव में नंद केश कटवाना नहीं चाहता परंतु विवश होकर उसे केश कटवाने पड़ते हैं। तभी सचेत होने पर वह भिक्षा पात्र अस्वीकार कर मन की क्षुब्धावस्था में जंगल की ओर निकल जाता है और व्याघ्र-द्वंद्व में क्षत-विक्षत होता है। अलका नंद के अंतर्द्वंद्व की ओर संकेत कर श्वेतांग से कहती है– ''कैसा अंतर्द्वंद्व रहा होगा कुमार के लिए।'' [19] अतः नंद के मन में अंतर्द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है।

नंद अपने जीवन में वरण की स्वतंत्रता का अभिलाषी है इसलिए वह अपनी वरण की स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए कहता है कि– ''मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।''[20] नंद में एक ऐसी छटपटाहट दृष्टिगत होती है जो अपने विश्वासानुसार जीने की आकांक्षा और जो दूसरों द्वारा थोपी गई आकांक्षाओं से उत्पन्न हुई है। उसकी अंतश्चेतना न तो स्वयं को रूपगर्विता सुंदरी की छाया सहने में समर्थ पाती है न बुद्ध की छाया को ओढ़ पा रही है। बुद्ध की छाया अज्ञात रूप से उसके मन-मस्तिष्क पर छा रही है। तभी उसे यह अनुभूति होती है कि 'मुझे एक किरण चाहिए।' नंद अपने मन की व्याकुलता को भिक्षु आनंद का विरोध करते हुए प्रकट कर ही देता है– "मैं जानता हूँ, वाणी के छल से तुम मुझे किस ओर ले जाना चाहते हो। मैं तथागत के सामने कह चुका हूँ और अब फिर से कहे देता हूँ कि वह दिशा मेरी नहीं है, कदापि नहीं है।'' [21] वह अपनी दिशा की खोज स्वयं करना चाहता है।

नंद अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है इसलिए वह असहाय बनकर जीना नहीं चाहता। वह अपनी आंतरिक आवश्यकता के वशीभूत होकर सत्य की तलाश में रत है। वह कहता है– "मैं इस असहायता की स्थिति में नहीं रह सकता। .....तब प्रश्न उन्होंने पूछे थे.....अब मुझे जाकर उनसे कई- कई प्रश्न पूछने होंगे। ..... अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिन्ह..... केवल एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है। क्यों..... पहले इसी प्रश्न का उत्तर मुझे उनसे जानना है ..... आज ही और अभी.. ''[22] वस्तुतः जब नंद की चेतना अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच प्रश्नचिन्ह बनकर उभरती है तब उसे अपनी धुरीहीनता, अजनबीपन और निराशा का अहसास होता है। यहीं से वह अपनी निरावृत्त चेतना द्वारा, अपनी संवेदना के माध्यम से अपनी वास्तविक दिशा को ढूंढ़ जीवन को सार्थकता प्रदान करना चाहता है। आधुनिक युग का व्यक्ति भी नंद की ही भांति जीवन को सार्थक बनाने के लिए वास्तविक दिशा को ढूँढ़ने में प्रयासरत है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मुक्ति के मार्ग का चयन स्वयं ही करना पड़ता है। इसलिए नंद, बुद्ध और सुंदरी के मार्ग को स्वीकार नहीं करता और अपने भीतर के पूर्णत्व की तलाश में निकल पड़ता है। नेमिचंद्र जी के मत में– "हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति का पथ स्वयं ही तलाश करना पड़ता है। दूसरों के द्वारा खोजा गया पथ चाहे कितना श्रद्धास्पद हो (जैसा बुद्ध का) या चाहे जितना आकर्षक और मोहक हो (जैसा सुंदरी का) किसी संवेदनशील व्यक्ति का समाधान नहीं कर सकता। इसलिए नाटक के अंत में नंद न केवल बुद्ध द्वारा बलपूर्वक थोपा गया भिक्षुत्व अस्वीकार कर देता है बल्कि सुंदरी के आत्म- संतुष्ट और छोटे वृत्त में आबद्ध किंतु

श्यामानंद जालान द्वारा निर्देशित 'लहरों के राजहंस' की 'अनामिका' (कलकत्ता) की प्रस्तुति।

आकर्षक जीवन को भी त्याग कर चला जाता है। अपनी मुक्ति का मार्ग उसे स्वयं ही रचना होगा।"[23] अतः कहा जा सकता है कि नंद की भांति आज का मानव भी परिस्थितियों के बीच अपने प्रबुद्ध अस्तित्व को खोजने के लिए निरंतर संघर्षरत है।

आस्था और अनास्था का द्वंद्व

आधुनिक युग प्रायः भौतिकवादी संस्कृति से परिचालित है। इस युग का व्यक्ति आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों में विश्वास नहीं करता। वह धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, परंपराओं और आडंबरों को नकारता है। सुंदरी भी भौतिकतावादी संस्कृति से परिचालित है। वह जीवन को इच्छा की संतुष्टि का साधन मानती है। संसार ही सत्य और सांसारिक सुख ही उसके लिए सर्वस्व हैं। उसका मानना है कि भोग से पलायन कापुरुषता है। गौतम बुद्ध, राजकुमार सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध क्यों बने ? इसका उत्तर वह अलका को देते हुए कहती है– "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।" [24] उसकी दृष्टि में गौतम बुद्ध का कामनाओं को जीतकर बोध प्राप्त करना भी एक कामना है जो उन्हें भौतिकता से जोड़ता है। उसकी दृष्टि में बुद्ध के पास एकत्रित होने वाली भीड़ धर्म और उपदेश के लिए नहीं बल्कि जीवन में कुछ नवीनता का आभास पाने के लिए उमड़ रही है। अलका के यह कहने पर कि संध्या होते ही नर-नारी बुद्ध का उपदेश सुनने के लिए उमड़ पड़ते हैं, वह इसका स्पष्ट उत्तर इन शब्दों में देती है– "बहुत दिन एकतार जीवन बिताकर लोग अपने से ऊब जाते हैं। यह उत्साह दूधफेन का उबाल है। चार दिन रहेगा, फिर शांत हो जाएगा।" [25] भौतिक आकर्षण कैसे व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, इसका मार्मिक चित्रण राकेश ने सुंदरी के माध्यम से किया है। हंसों के कलरव को सुनकर वह अलका से कहती है– "ओस से लदे कमलों के बीच राजहंसों के इस जोड़े की किलोल या इस झुटपुटे अंधेरे में दूर से सुनाई देता इनका कूजन ! आज पहली बार इन्हें इस समय बोलते सुना है। (*ज़रा हंसकर*) कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये एक बार चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे, फिर कांपती हुई लहरें जिधर ले जाएंगी, उधर को तैर जाएंगे। शायद उस दिन एक बार गौतम बुद्ध का मन नदी तट पर जाकर उपदेश देने का नहीं होगा।" [26] राजहंसों के माध्यम से सुंदरी ने आज के मानव की मनस्थिति को चित्रित किया है। उसका कहना है कि आध्यात्मिक बातें मनुष्य को आकर्षित तो करती हैं वह उन्हें आश्चर्यचकित हो सुनता भी है परंतु परिस्थितियाँ रूपी लहरें व्यक्ति को अपने साथ बहा ले जाती हैं। ऐसे में आध्यात्मिकता धरी की धरी रह जाती है। अतः मनुष्य-जीवन की सच्चाई भौतिक ऐषणाओं में है।

सुंदरी, राजकुमार सिद्धार्थ का गौतम बुद्ध बन जाने का कारण यशोधरा को मानती है। वह किसी धार्मिक आस्था, निर्वाण या मोक्ष प्राप्ति को इसका कारण नहीं मानती। वह कहती है कि यदि यशोधरा में उन्हें आकर्षित करने की क्षमता होती तो आज वे बुद्ध न होते, सांसारिक व्यक्ति होते, राग-काम में लिप्त जिसकी अपनी कुछ स्थूल आवश्यकताएं होती हैं, जिन्हें जीवन और जगत् के बीच रहते हुए पूरा किया जा सकता है। उसकी दृष्टि में यदि बुद्ध के नेत्रों ने प्राकृतिक उपादानों के अभिराम रूप का उन्मुक्त आस्वादन किया होता तो वे निश्चित ही रागी पुरुष होते। दूसरी ओर भौतिकता से परे एक आध्यात्मिक दर्शन है जो जीवन को क्षणभंगुर और नश्वर

मानता है। गौतम बुद्ध अध्यात्म के इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं– "मैं, मैं नहीं हूँ, तुम, तुम, नहीं हो, वह, वह नहीं है..... सब किसी उंगली से आकाश में बनाए गए चित्र हैं जो बनते-बनते साथ ही मिटते जाते हैं, जिसका होना ना होने से भिन्न नहीं है। "[27] इस वैज्ञानिक युग में आज का व्यक्ति भौतिक चकाचैंध में लिप्त है। वह आध्यात्मिकता के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास को खो चुका है। वह यह भूल गया है कि आध्यात्मिकता ही सुख प्राप्ति का केंद्र है। भौतिक ऐषणाओं में जीता हुआ वह दिग्भ्रमित अवस्था में पहुंच गया है।

आध्यात्मिकता और भौतिकता के द्वंद्व के झूले में झूलता हुआ नंद भी किसी एक दर्शन के प्रति आस्थावान नहीं हो पाता और आज के मानव की ही तरह दिग्भ्रमित दिखाई देता है। वह कहता है– "इतना समझ में आता है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष होता है और काल के विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थायी हैं। सुख, सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की एक अकुलाहट.....परंतु वह स्पन्दन,वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है ?.... आकाश में कहीं लटकते हुए नीले-काले बिंदु– कोरे सिद्धांतों के– ये अधिक स्थायी अधिक सत्य कैसे हैं?"[28] इस प्रकार नंद प्रश्नाहुत मुद्रा में है।

अतः इस नाट्यकृति में राकेश सुंदरी और बुद्ध के माध्यम से भौतिक और आध्यात्मिक दर्शन के प्रति आस्था - अनास्था का चित्रण करते हैं, वहीं नंद के माध्यम से धार्मिक शक्ति और लौकिक आकर्षण के द्वंद्व को उभारते हुए उससे पीड़ित व्यक्ति के संघर्ष को मुखरित करते हैं। सुंदरी की दृष्टि में भौतिक सुखों का त्याग मनुष्य की कमज़ोरी है। सौंदर्य व यौवन का तिरस्कार कर भिक्षुणी बन जाना उसे स्वीकृत नहीं। वह यशोधरा के भिक्षुणी बनने के निर्णय पर दुःख प्रकट करते हुए कहती है– "सोचकर खेद होता है कि इतने वर्ष पीड़ा सहने के बाद भी देवी यशोधरा अपनी पीड़ा का मान न रख सकीं। "[29] वह बुद्ध के अध्यात्म दर्शन को नकारते हुए कहती है–"गौतम बुद्ध ने बोध प्राप्त किया है, कामनाओं को जीता है। पर मैं कहती हूं कि कामनाओं को जीता जाए, यह भी क्या मन की एक कामना नहीं है?" [30] इस प्रकार सुंदरी जहां भौतिक ऐषणाओं को ही जीवन का पर्याय मानती है वहीं नंद यह मानता है कि किसी दर्शन के प्रति आस्था-अनास्था का मापदंड बाहरी आवरण नहीं अपितु आंतरिक परिवर्तन है। स्पष्ट है कि धर्म जो जीवन को परिचालित करने वाली शक्ति माना गया है, आधुनिकता उस पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। नाटककार ने सुंदरी, बुद्ध और नंद के माध्यम से भौतिक और अध्यात्म दर्शन के प्रति आस्था-अनास्था का मार्मिक चित्रण कर, आज के व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति को अभिव्यक्ति दी है।

संदर्भ

1. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि, मोहन राकेश, पृ. 151
2. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक, नेमिचंद्र जैन, लहरों के राजहंस, पृ. 211
3. मोहन राकेश और उनके नाटक, डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृ. 83
4. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक, नेमिचंद्र जैन, पृ. 208
5. आलोचना, जनवरी 1966, सुरेश अवस्थी, पृ. 17
6. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक, नेमिचंद्र जैन, पृ. 161
7. वही, पृ. 171
8. वही, पृ. 187
9. समकालीनता के अतीतोन्मुख नाटक, डॉ. रमेश गौतम, पृ. 80
10. आधुनिकता और हिंदी साहित्य, डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ. 104
11. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक, नेमिचंद्र जैन, पृ. 186

12 वही, पृ. 208

13. वही, पृ. 174
14. वही, पृ. 208
15. वही, पृ. 151
16. वही, पृ. 192
17. वही, पृ. 191
18. समकालीन नाट्य साहित्य और मोहन राकेश के नाटक, डॉ. सुषमा अग्रवाल, पृ. 86
19. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक , नेमिचंद्र जैन, पृ. 180
20. वही, पृ. 186
21. वही, पृ. 184
22. वही, पृ. 192
23. नटरंग, अंक 22, नेमिचंद्र जैन, पृ. 20
24. मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक, संपादक, नेमिचंद्र जैन, पृ. 134
25. वही, पृ. 134
26. वही, पृ. 135
27. वही, पृ. 187
28. वही, पृ. 186
29. वही, पृ. 133
30. वही, पृ. 134

मधु कौशिक
प्रोफ़ेसर, रामानुजन महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पर्क: फ्लैट नं. 187, सेक्टर 1, पॉकेट 1,
डीडीए एस. एफ. एस. फ्लैट्स
द्वारका, नई दिल्ली - 110075,
मो. 9717715924
ईमेल: madhukaushik22@gmail.com

मोहन राकेश के नाटकों की भाषा

आशा

मोहन राकेश ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में नाट्य लेखन की शुरुआत की। यह वह भारत था जिसमें सामाजिक-पारिवारिक सम्बन्धों में तेज़ी से बदलाव हो रहा था। इन परिवर्तित और जटिल मानवीय सम्बन्धों में द्वंद्व है, तनाव है, उलझन है, झुंझुलाहट है। दर्शक की मनोभूमि में इन सब 'उलझे हुओं' को सम्पूर्ण और प्रामाणिक रूप से पहुंचाना नाट्य भाषा का दायित्व है। राकेश इस दायित्व को पूरा करने के लिए लगातार जूझते रहे, सटीक शब्दों की तलाश करते रहे और इस दिशा में चिंतन करते रहे। उनका समूचा नाट्य साहित्य निरन्तर परिवर्तित हो रहे मानवीय सम्बन्धों और सरोकारों को दर्शाने की कोशिश है।

भारतीय नाट्य परम्परा में नाटक को 'दृश्य-काव्य' कहा गया है। 'दृश्य-काव्य' से तात्पर्य शब्दों द्वारा रचे गये ऐसे काव्य से है जो 'देखा' जाता है। मोहन राकेश ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से प्राप्त इसी शब्द को सूत्र की तरह पकड़ते हुए 'नाटक की भाषा' के महत्त्व को स्थापित किया। आन्तरिक जगत के भावों और विचारों को सम्पूर्णता से व्यक्त करने की तलाश में राकेश 'शब्द' और 'ध्वनि' को एक औज़ार के रूप में इस्तेमाल करते हुए रंग-भाषा की संभावनाएँ तलाशते हैं। "अपने समय के जटिल जीवन और अस्तित्व के सूक्ष्म-गहन स्तरों को प्रामाणिक अभिव्यक्ति देने के लिए राकेश एक सच्ची, खरी, तनावपूर्ण और स्वतःस्फूर्त रंग-भाषा की सृष्टि करते हैं जो नाटक, रंगमंच और जीवन को एक बिंदु पर लाकर जीवन्त बना देती है।"

मोहन राकेश स्पष्ट कहते हैं कि नाटककार को अपने द्वारा परिकल्पित दृश्य में संवाद केवल 'भरने' नहीं होते बल्कि 'शब्दों की एक न समाप्त होने वाली कड़ी' को बुनना होता है जो प्रेक्षागृह में नाटक देख रहे दर्शकों के दिमाग तक बिना किसी बाधा के सीधे संप्रेषित होती है। नाटक की भाषा परस्पर विरोधी भावों, मनःस्थितियों, घटना-क्रमों को अपने में समाहित किये रहती है, किन्तु इन सब 'विरोधियों' को वह जिन शब्दों के माध्यम से दर्शक तक पहुंचाती है वे आसान और सरल हों। राकेश के शब्द लेकर कहें तो नाट्य भाषा एक 'मायावी सरलता' ओढ़े हुए हो लेकिन उसके 'मायावीपन' का दर्शकों को पता न लगे। नाटक की भाषा में अलंकारों से परहेज़ होना चाहिए क्योंकि दर्शक-समूह में केवल 'विद्वत परिषद्' ही नहीं होती, समाज के किसी भी तबके का सदस्य उसका हिस्सा हो सकता है। नाट्य भाषा का कार्य अपने दर्शकों को चमत्कृत करना नहीं होता, वह उन्हें प्रभावित भी नहीं करती बल्कि वह 'भाँति-भाँति के दर्शकों के मन को भेदती है।' राकेश साफ़ कहते हैं कि "वह नाटक, नाटक नहीं, यदि वह उन लोगों तक न पहुँच सके जो कि उसे देख रहे हैं।"

नाटक की अंतिम परिणति 'मंच' है। अलग-अलग समय और सन्दर्भ में किये गये प्रदर्शनों में विभिन्न नाटकीय अर्थ, उच्चरित शब्दों के माध्यम से ही अपनी सत्ता ग्रहण करते हैं। ऐसे में, प्रयुक्त किये जा रहे 'शब्द' की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। मोहन राकेश के अनुसार जो शब्द नाटक में प्रयुक्त किया जा रहा है – उस शब्द-विशेष के चुने जाने के कारण, वाक्य में उसके स्थान और सबसे ज़्यादा नाटकीय स्थिति व संवाद में उसकी आवश्यकता पर बार-बार विचार किया जाना चाहिए। कई बार लिखित शब्द पढ़ने में बहुत प्रभावशाली लगता है किन्तु जब वह स्टेज पर उच्चरित किया जाता है तो उतना प्रभाव नहीं छोड़ पाता। नाटक एक प्रायोगिक विधा है। मोहन राकेश का मानना है कि नाटक में प्रयुक्त शब्द को उच्चारण-प्रयोग और संवाद में उसकी उपयुक्तता की कसौटी पर कसा जाना चाहिए।

मोहन राकेश नाटक के लिखे जाने से लेकर उसके मंचित होने तक की पूरी प्रक्रिया में 'शब्द' को आधारभूत तत्व मानते हैं। नाटककार नाटकीय 'शब्द' का चयन करता है, निर्देशक 'शब्दों' के विभिन्न अर्थों का विश्लेषण करता है, अभिनेता 'शब्दों' का ही प्रयोग करते हुए उन विश्लेषित अर्थों को 'स्टेज' के माध्यम से दर्शक तक लेकर आता है, दर्शक 'शब्द' को सुनते हुए बिम्ब ग्रहण करता है– इस पूरी प्रक्रिया में 'शब्द' हर स्तर पर निखरते हुए, छनते हुए चलते हैं और दर्शकीय चेतना तक विभिन्न अर्थों को संप्रेषित करते हैं। शब्द स्वयं में जीवित इकाई है, इसीलिए नाटकीय कार्य, जो शब्दों पर आधारित है, उसका सम्बन्ध इन्सानी दिमाग की भाषा

से होना चाहिए। शब्द दर्शक के दिमाग तक पहुँचने के औज़ार हैं। मोहन राकेश ने रंगमंच को 'शब्द-निर्भर' माना क्योंकि "रंगमंच में दृश्य की आपेक्षिक स्थिरता के बावजूद जो एक आन्तरिक गति रहती है, वह शब्दों और ध्वनियों की निरंतरता से ही उपजती है, क्योंकि यहाँ जो 'देखा' जा रहा है, वह 'सुने जा रहे' का ही रूपान्तर होता है।" रंगमंच में शब्द बीज-रूप हैं जिनसे बिम्बों और दृश्यों की उत्पत्ति होती है। शब्द-निर्भरता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शब्द ही शब्द हों, उनमें बिम्ब और दृश्य का गुण चाहे हो या न हो। स्पष्ट है कि शब्दों की भरमार बिम्ब को रचने की बजाय उसे खण्डित भी कर सकती है। शब्द की उपस्थिति तभी सार्थक है जब वह अर्थवान है और अभिव्यक्ति की ज़रूरत उससे पूरी हो रही है या किसी बिम्ब की संरचना में उसका योगदान है।

'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' – दोनों नाटकों का देश-काल-वातावरण कालिदासकालीन और बौद्धकालीन है किन्तु इन दोनों ही नाटकों का कथ्य आधुनिक मानव की मानसिकता से जुड़ा है। राकेश को दोनों 'समयों' की रक्षा करनी थी – इतिहास और संस्कृति की भी व आधुनिक समय के द्वंद्व की भी। इन दोनों लक्ष्यों को उन्होंने नाट्य-भाषा से साधा है। इन नाटकों के ऐतिहासिक चरित्रों की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है किन्तु इस भाषा की अर्थ-ध्वनियाँ आज की हैं।

साहित्य में किसी भी शब्द का 'सन्दर्भ' महत्त्वपूर्ण होता है। यह सन्दर्भ कभी मिथक, कभी इतिहास, कभी परिवेश और कभी स्थिति-विशेष से जुड़कर अपना स्वरूप धारण करता है। 'आषाढ़ का एक दिन' इस बात का जीता-जागता प्रमाण है। इस नाटक की ख़ास बात है – इसकी भाषा – यह भाषा, विशेष सन्दर्भों और स्थितियों से जुड़कर ही ख़ास बनी है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक भावना और यथार्थ के द्वन्द्व, कलाकार के द्वन्द्व, परिस्थितियों के परिवर्तन से मानवीय स्वभाव में परिवर्तन के द्वन्द्व से उत्पन्न सूक्ष्म अनुभूतियों और स्थितियों से परिपूर्ण नाटक है। इस नाटक के सारे चरित्र अलग-अलग जीवन-दृष्टियों, अलग-अलग मनःस्थितियों और अलग-अलग सरोकारों के परिचायक हैं। चरित्रों की इस वैविध्यपूर्ण मनोभूमि को अखण्डित रूप से दर्शाने के लिए भाषा का सतर्क प्रयोग एक जटिल और चुनौतीपूर्ण कार्य था। अम्बिका और मल्लिका, कालिदास और विलोम की परस्पर बातचीत में प्रत्येक शब्द व्यंजना से भरपूर है – इन चरित्रों के संवादों में प्रयुक्त शब्द अर्थ की परत-दर-परत खोलते रहते हैं –

"*मल्लिका* : मैं जानती हूँ माँ, अपवाद होता है। तुम्हारे दुःख की बात भी जानती हूँ। फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है ..।

(*अम्बिका के चेहरे पर रेखाएँ खिंच जाती हैं।*)

अम्बिका : और मुझे ऐसी भावना से वितृष्णा होती है। पवित्र, कोमल और अनश्वर। हँ!

मल्लिका : माँ, तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करतीं ?

अम्बिका : तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है... भावना में भावना का वरण किया है... मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है ? उससे जीवन की स्थूल आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं? भावना में भावना का वरण... हँ!"

अम्बिका का जीवन को देखने का नज़रिया सम्पूर्णतः यथार्थ से भरा है – यह बात उसके संवाद ही दर्शाते हैं। अम्बिका की भाषा में जीवन की कड़वी सच्चाइयों से उपजी तल्ख़ी है, अपनी पुत्री की नासमझी के प्रति असफलता-बोध है। जीवन को यथार्थ के धरातल पर देखने वाली अम्बिका की भाषा कई स्तरों का उद्घाटन एक साथ करती है। एक विधवा, गरीब स्त्री द्वारा अपने जर्जर होते शरीर व घर की चिंता और सबसे ज़्यादा भावना का वरण कर जीवन जीने वाली अपनी पुत्री के भविष्य की आशंका – इन सबसे घिरा अम्बिका का व्यक्तित्व भाषा ने ही वहन किया है। नाटक के द्वितीय अंक में अम्बिका के संवादों की नाटकीय लय अत्यंत तीखी हो जाती है –

"*अम्बिका* : लो, मेघदूत की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थीं उसके अंतर की कोमलता साकार हो उठी है? आज उस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया?

(*मल्लिका ठगी-सी उसकी ओर देखती रहती है।*)

आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेती। घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससे बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हें चाहिए?"

नाटकीय संवादों में लय का होना अपरिहार्य है। शब्दों की आपस की आन्तरिकता ही इस लय का निर्माण करती है। लय से ही प्रयुक्त शब्द, अर्थ की कई-कई ध्वनियों को व्यंजित करते हैं। शब्दों की इसी आन्तरिक लय का निर्वाह राकेश मल्लिका की भाषा में करते हैं। मल्लिका की भाषा में राकेश कवि हो उठे हैं। शब्दों के द्वारा बिम्बों के निर्माण का ख़ूबसूरत उदाहरण इस चरित्र के संवादों में देखने को मिलता है–

".. चारों ओर धुँआरे मेघ घिर आये थे। मैं जानती थी वर्षा होगी। फिर भी मैं घाटी की पगडंडी पर नीचे-नीचे उतरती गयी। एक बार मेरा अंशुक भी हवा ने उड़ा दिया। फिर बूँदें पड़ने लगीं।"

मल्लिका के इन शब्दों को सुनते ही दर्शक भी वर्षा के परिवेश और मल्लिका के 'भीगे होने' के आनन्द में स्वयं को शामिल कर लेता है।

'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास और विलोम परस्पर विरोधी कहे जाने वाले चरित्र हैं। इन दोनों की भाषा में एक ख़ास तरह की आन्तरिक लय को राकेश ने समाविष्ट किया है। ये दोनों चरित्र स्वयं के बारे में इतना नहीं कहते जितना एक-दूसरे के बारे में कहते हैं। नाटकीय स्थितियों को चरम पर ले जाने में, एक-दूसरे के चरित्र की बखिया उधेड़ने के लिए राकेश ने अचूक शब्दों को चुना है –

"*विलोम* : क्योंकि तुम लौट आये हो ? .. क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है ? क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत हैं ?

(*हँसता है।*)

जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं है। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। परन्तु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है। अधिकार दिये हैं। वह धूप और नैवेद्य लिये घर की देहली पर रुका नहीं रहा। उसने औरों को अवसर दिया है! निर्माण किया है। .. तुम्हें उसके निर्माण से वितृष्णा होती है? क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो, नहीं देख पा रहे हो?"

प्रस्तुत संवाद में उच्चारण की लय द्वारा कितने-कितने अर्थों की व्यंजना की जा सकती है। यहाँ कालिदास की आत्मकेन्द्रिकता में लिप्त व्यर्थता-बोध, मल्लिका का वर्तमान और सबसे ज़्यादा समय के बलवान होने का भाव एक साथ उभरते हैं और दर्शक जैसे स्वयं को विलोम के रूप में कालिदास को 'खरी-खरी' सुनाता हुआ पाता है।

जिस तरह हर इन्सान का अपना मूल स्वभाव होता है, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द का अपना एक अर्थ होता है। परिस्थितियों के कारण जिस तरह इन्सानी स्वभाव विभिन्न रूपों में तब्दील हो जाता है उसी प्रकार विशेष अभिप्रायों में प्रयुक्त शब्द भी कई-कई अर्थ छवियों का निर्माण करते हैं, शर्त उनको सटीक लय के साथ प्रस्तुत करने की है। मोहन राकेश के नाटकों में कहानी से ज़्यादा बल चरित्रों पर रहता है। चरित्रों की भीतरी ऊहापोह, उनके अन्तर्द्वन्द्व को मोहन राकेश शब्दों में अर्थ की आतंरिक लय का नियोजन करके उद्घाटित करते हैं। राकेश का मानना था कि, " ....आदमी के मन में जो घटता रहता है उसे थियेटर की भाषा में जगह लेनी होगी जिससे शब्दों और दर्शकों के बीच गहरा और तात्कालिक सम्बन्ध बन सके।" नाटकीय शब्दों और दर्शकों के बीच गहरा सम्बन्ध तभी बन पाता है, जब दर्शक बोले गये संवादों और चरित्र के बीच तालमेल पाता है। अतः जो लय शब्दों की है, वही चरित्र की भी लय होनी चाहिए।

'लहरों के राजहंस' राग और विराग, सौन्दर्य और दर्शन का द्वन्द्व प्रस्तुत करता है। इस नाटक की भाषा में एक ओर सौन्दर्यपूर्ण, कोमल, झंकृत कर देने वाले शब्द हैं तो दूसरी ओर जीवन के सत्य का दर्शन कराती गंभीर प्रसादात्मक शब्दावली। इन दोनों के बीच नन्द रूपी द्वन्द्व है जो किसी 'एक' का चुनाव नहीं कर पाता, बीच में उलझा हुआ-सा दिखाई देता है। एक उलझी हुई मनःस्थिति का फैलाव इतना गहरा होता है कि उसे जितना सुलझाने की कोशिश की जाती है, उसकी उलझन बढ़ती जाती है। 'लहरों के राजहंस' की भाषा इसी द्वन्द्व की वाहक बनी है –

"*नन्द* : .... सच, कभी-कभी कितना अवसाद घिर आता है मन में! (*हल्की उसाँस के साथ*) परन्तु फिर तुम्हारी आँखों में देखते ही अवसाद की धुंध न जाने कहाँ छँट जाती है ... शायद उन्माद की एक और भी स्थिति है जो मुझमें है। कुछ है जो चेतना पर कुण्डली मारे बैठा रहता है, और मुझे अपने से मुक्त नहीं होने देता। मैं उससे मुक्त होना चाहता हूँ ... परन्तु क्या सचमुच मुक्त होना चाहता हूँ ... यह क्यों कभी मन में स्पष्ट नहीं हो पाता ?"

जीवन जीने की दो दृष्टियों के बीच विद्यमान चेतना और उससे उपजी छटपटाहट को बता पाने की विवशता यहाँ देखी जा सकती है। शब्द चाहे आम बोलचाल का हो, चाहे संस्कृत वाङ्मय का – लय के द्वारा वह सामान्य अर्थ को पार करते हुए, अन्य अर्थों की ओर संकेत करने लगता है।

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश का तीसरा नाटक है। इस नाटक का सर्वप्रथम निर्देशन करने वाले ओम शिवपुरी ने नाटक की भाषा को आज के जीवन के गहन अनुभव-खण्ड को मूर्त करने वाली भाषा कहा है– "इसमें वह सामर्थ्य है, जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन – सब कुछ ऐसा है, जो बहुत सम्पूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है। लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चरित ध्वनि-समूह का यही बल है, जिसके कारण यह नाट्य रचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मोहन बनाये रख सकी।"

मोहन राकेश के तीनों ही नाटकों के कार्य-व्यापार में घटनाओं की तीव्रता और स्थितियों का परिवर्तन उतना नहीं है जितना चरित्रों

की मनःस्थिति में आया बदलाव। इन नाटकों की भाषा मनःस्थिति के आरोह-अवरोह को धारण करके चलती है। नाटककार द्वारा चुन-चुनकर डाले गये शब्दों को रंग-भाषण के द्वारा अनेक अर्थों में गुंजायमान कर सकने की पर्याप्त गुंजाइश अभिनेता के पास है। 'आषाढ़ का एक दिन' में आये 'धुँआरे मेघ', 'विचक्षण', 'अतिथि', 'अभाव', 'वर्षा', 'अयाचित', 'मित्रता', 'आकाश', 'भूमि' आदि शब्द; 'लहरों के राजहंस' में 'अँधेरा', 'छाया', 'दर्पण', 'कामोत्सव' आदि; 'आधे-अधूरे' में 'गर्द', 'घरघुसरा', 'रबड़ का टुकड़ा', 'नकारा', 'हवा' आदि ऐसे विशिष्ट शब्द हैं जो पढ़ने पर उतना प्रभाव नहीं छोड़ते, जितना उच्चरित होने पर। विशिष्ट सन्दर्भ और लय पाकर इनकी व्यंजना-शक्ति प्रभावशाली हो उठी है।

नाट्य भाषा के प्रसंग में 'मौन' का ज़िक्र आना स्वाभाविक है। किसी चरित्र की मनःस्थिति को समझने के लिए मौन कई बार इतना कुछ कह देता है जिसे कहने में शब्द चुक जाते हैं। सजग नाटककार मोहन राकेश अर्थवान नाट्य भाषा के रूप में 'मौन' का भी सटीक इस्तेमाल करते हैं। उनका कहना है – "... शब्दों की यात्रा में बहुत बार बहुत कुछ अनकहे शब्दों द्वारा कहा जाता है। ये अनकहे शब्द बिम्ब के साथ-साथ यात्रा करते हुए बिना ध्वनियों के भी अर्थ व्यंजित कर देते हैं।" वस्तुतः शब्दों द्वारा बनाए गये बिम्बों को मौन 'और ज़्यादा' गहन और सघन बना देते हैं। मौन 'कहे जा चुके' और 'कहे जाने वाले' शब्दों के बीच पुल का काम करता है। मौन के इस पुल को पार करके शब्द अपने व्यंजित अर्थ को सम्पूर्णता में कह पाते हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका अपने वर्षा में भीगने के आनंद को बताने में मग्न है, अम्बिका उसकी बातों के प्रति उदासीनता का रुख अपनाये हुए है। मल्लिका अपने आनंदमय अनुभव में अम्बिका को शामिल करना चाहती है किन्तु अम्बिका मौन धारण कर लेती है। मल्लिका द्वारा बार-बार पूछे जाने पर भी वह कुछ नहीं कहती, केवल 'आँचल से आँसू' पोंछ लेती है। इस पूरी स्थिति में बुज़ुर्ग और अनुभवी महिला द्वारा अपनी बेटी को न समझा पाने की विवशता, उस विवशता से उपजा तनाव और निराशा गहराई से व्यंजित होते हैं जो मल्लिका के साथ ही दर्शक को भी भीतर तक कचोट जाते हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश ने मौन के द्वारा कई जगहों पर तनावपूर्ण स्थितियों की गहनता को व्यंजित किया है। बड़ी लड़की जब अपने मम्मी-डैडी (सावित्री-महेन्द्रनाथ) से 'मनहूस चीज़' ढूँढ़ने को लेकर बात करती है और उस बातचीत का कोई हल नहीं निकलता, तो बिन्नी का धर्य जवाब दे जाता है –

"*बड़ी लड़की* : मेरा अपना घर... हाँ! और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज़ है वह इस घर में जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है। (*लगभग टूटते स्वर में*) तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज़ है वह? और कहाँ है वह? इस घर के खिड़कियों-दरवाज़ों में? छत में? दीवारों में? तुममें? डैडी में? किन्नी में? अशोक में? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज़ जो वह कहता है मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गयी हूँ? (*स्त्री की दोनों बाँहें हाथ में लेकर*) बताओ ममा, क्या है वह चीज़? कहाँ पर है वह इस घर में?"

बड़ी लड़की के इस आवेशपूर्ण, बेचैनी और कसमसाहट से भरे प्रश्नाकुल संवाद के बाद राकेश 'काफ़ी लम्बा वक़्फ़ा' रखते हैं। यह स्थल 'आधे-अधूरे' की उन स्थितियों में से एक है जिनमें तनाव अपने चरम पर है। एक लम्बे रंग-संकेत में बड़ी लड़की द्वारा स्त्री और पुरुष-एक को प्रश्न भरी बेचैन नज़र से देखना, स्त्री और पुरुष-एक – दोनों की आँखें मिल जाना और फिर आँखें फेर लेना, स्त्री की आँखों में जैसे पुरुष-एक को कुछ कहने का भाव आकर भी कुछ न कहना, स्त्री द्वारा बड़ी लड़की को दिलासा देने के रूप में कन्धे पर हाथ रखना, स्त्री की आँखों की दुविधा और पुरुष-एक के प्रति तिरस्कार, पुरुष-एक का असमजंस की स्थिति में अखबार को गोल करके दोनों हाथों में उसकी रस्सी बटना और फिर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देना आदि है।

समूचे विवरण में एक भी शब्द कहा नहीं गया है लेकिन फिर भी दर्शक तक बहुत कुछ सम्प्रेषित हो जाता है। मौन के इस लम्बे अंतराल में राकेश ने स्त्री-पुरुष के कटु सम्बन्धों के कारण बिन्नी की बेचैनी रूपी परिणति को उघाड़कर रख दिया है। यहाँ मौन 'हरकत की भाषा' में तब्दील हो गया है।

नाट्य भाषा को व्यंजनापूर्ण बनाने के लिए मोहन राकेश एक और युक्ति का सहारा लेते हैं– संवादों को बीच में ही अधूरा छोड़ना। मन की भीतरी उठा-पटक को व्यक्त करने के लिए कई बार सटीक शब्द न मिल पाने के कारण हम वाक्य को अधूरा ही छोड़ देते हैं। नाटक में इस युक्ति के दो फायदे हैं – एक तो, इन आधे-अधूरे संवादों से अनुभूतियों का उलझाव, तनाव और द्वन्द्व चरम पर पहुँच जाते हैं और दूसरे, ऐसे अधूरे संवादों से नाटक देख रहे दर्शक की कल्पनाशीलता को भी 'स्पेस' मिल जाता है।

'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी जब अपनी दासी अलका को द्वार से खाली लौटकर गये गौतम बुद्ध को रोकने का आदेश नहीं देती, तब आधी-अधूरी पंक्तियाँ ही नन्द की अव्यवस्थित और असमंजस से परिपूर्ण मनःस्थिति का तीव्रता से उद्घाटन करती हैं –

"*सुन्दरी* : (*कटोरी उसकी ओर बढ़ाकर*) मेरे माथे पर विशेषक नहीं बनायेंगे?

नन्द : (*अपने में खोया-सा*) विशेषक ? .. अ .. हाँ ...! (*हाथ बढ़ाकर*) लाओ, दो मुझे।

सुन्दरी : (*कटोरी हटाकर*) नहीं, इस मन से नहीं। पहले बताएँ क्या सोच रहे हैं?

नन्द : सोच रहा था कि...

सुन्दरी : उन्हें कैसा लगा होगा... उन्होंने मन में क्या सोचा होगा। यही न?

नन्द : हाँ ... और साथ यह भी कि ..."

यहाँ नन्द के मन की ऊहापोहात्मक स्थिति को अधूरे वाक्य 'और ज़्यादा' उभारते हैं। गौतम बुद्ध के प्रति गहरी श्रद्धा और अदम्य सौन्दर्य की स्वामिनी अपनी पत्नी की इच्छा का मान – इन दो भावों में नन्द की द्वन्द्वात्मक स्थिति की चुभन और बेचैनी को अधूरे वाक्य सम्पूर्णता में व्यक्त करते हैं।

मोहन राकेश अपने पहले दो नाटकों की भाषा से असन्तुष्ट थे – "मेरे पहले दो नाटक अपनी साहित्यिक ख़ूबसूरती की वजह से पसन्द किये गये। और मुझे लगा कि यही वजह थी कि जिससे वे मेरे अपने आसपास के माहौल और गति को नहीं व्यक्त कर पाये। यद्यपि मैंने पात्रों को इतिहास से आधुनिक कलेवर देना चाहा लेकिन तब भी मुझे लगा कि शब्दों के अतिरेक से कहीं उसके नाटकीय प्रयोजन और उन शब्दों के अर्थ के बीच समानता थी।"[6] 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' दोनों ही नाटकों में समकालीन परिस्थितियों को चित्रित करने के लिए इतिहास का प्रयोग किया गया था, अतः यहाँ भाषा की दोहरी भूमिका थी – इतिहास की गम्भीरता को बनाये रखना और आधुनिक दुविधात्मक-संशयात्मक स्थिति को खरे रूप में प्रस्तुत करना। 'आषाढ़ का एक दिन' आज के लेखक के उस मानसिक संघर्ष को अभिव्यक्त करता है जिसमें संस्थाओं के प्रति आकर्षण और स्वयं के प्रति प्रतिबद्धता का घर्षण चलता रहता है – दोनों के चयन को लेकर दुविधा की स्थिति बनी रहती है, तो 'लहरों के राजहंस' उस द्वन्द्वात्मक स्थिति का बयान करता है जिसमें तमाम तरह के भौतिक सुखों के बावजूद किसी 'उस' की तलाश है जिसके बारे में स्वयं को ही नहीं पता। इन दोनों ही नाटकों की पेचीदगी को अखंडित और प्रामाणिक रूप में दर्शकों तक पहुंचाना निश्चित रूप से मुश्किल काम था। मोहन राकेश ने इस जोखिम को उठाया और उसमें सफलता भी पाई। जहाँ तक इन नाटकों की भाषा में उनकी असंतुष्टि का सवाल है, तो यह उस शब्द-खोजी रंग-चिन्तक की महानता है जो भीतर की उलझन को शब्दों का रूप देने के लिए निरंतर प्रयास करता है।

मोहन राकेश जब 'आषाढ़ का एक दिन' से शुरू कर 'लहरों के राजहंस' से गुज़रते हुए 'आधे-अधूरे' तक आते हैं तो नाट्य-भाषा एक नये ही तेवर में उतर आती है। एक प्रकार की अनिश्चितता के माहौल में भाषा 'तनाव' को रचती-सी जान पड़ती है। स्थितियाँ और परिवेश आधुनिक महानगर के एकल परिवार के हैं जिनमें रोज़मर्रा की खीझ व चिड़चिड़ापन है जो बहुत तल्ख़ और कटु है। राकेश इस नाटक की भाषा के विषय में भी असन्तुष्ट ही थे – "अपने तीसरे नाटक में मैंने, अपने आस-पास के माहौल को पकड़ने में सही मानों में संघर्ष किया और ऐसी भाषा की तलाश की जो कि आम बोलचाल की भाषा थी। लेकिन वह भी कुछ ख़ास नहीं थी।"

वस्तुतः राकेश दर्शक को समसामयिक मानवीय अनुभव देने में समर्थ भाषा की तलाश में थे। इस तलाश के पहले कदम के रूप में उन्होंने पाया कि शब्दों और दृश्यों के आपसी विखंडन की बहुत संभावनाएँ हैं– ये संभावनाएँ आधुनिक इंसान के अंतर्द्वन्द्व को उजागर करने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। वे इस बात से भली-भाँति वाकिफ़ थे कि दृश्य माध्यमों में सिनेमा, रंगमंच की तुलना में लगातार आगे बढ़ रहा है। सिनेमा ने आज की 'भागमभाग' और 'फ़टाफ़ट जेनरेशन' के लिए तेज़ी से बदलते दृश्यों में, राकेश के शब्दों में 'दृश्यों के विखंडन की भाषा' को ईजाद कर लिया है। रंगमंच के माध्यम से "यदि आज के लोगों की अपेक्षाओं को पूरा करना है तो यही गति नाटक में लानी होगी।" रंगमंच की स्थान सम्बन्धी सीमाओं के कारण इस विखंडन गति को दृश्यों में खोजने के स्थान पर शब्दों और ध्वनियों में खोजना होगा क्योंकि "नाटक की मूल विशेषता उसके शब्दों की रवानगी में है और दृश्य के माध्यम से उस रवानगी का पता चलता है।" आधुनिक हिन्दी नाटकों को आज के अनुभवों को व्यक्त कर सकने वाली भाषा की दरकार है। राकेश का मानना था कि नाटक की भाषा अपने परिवेश से जुड़ी हुई हो और उसे जीवन की गहरी पहचान हो – "नाटककार के शब्द कुछ इस तरह काम करें जिससे दर्शक की अनुभूति पर उनका ऐसा प्रभाव पड़े कि वह अचानक अपने आपको आस-पास के परिवेश से जुड़ा पाये।" अतः नाटक की प्रदर्शनीयता को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए शब्द सशक्त होना चाहिए, शब्द की मूल स्रोत ध्वनि है और ध्वनि में विखंडन की अनन्त संभावनाएँ हैं। राकेश ने इस सिद्धांत को व्यावहारिक धरातल पर आज़माने के लिए ध्वनि-नाटकों की रचना भी की। भारतीय रंगमंच में यह अपनी तरह का अनूठा प्रयोग था।

'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश ने मेघ गर्जन, घोड़ों की टापों और वर्षा के शब्दों का प्रयोग तीनों अंकों में किया है, जो परिवेश को तो प्रामाणिक बनाता है ही, चरित्रों की मानसिक दशा भी दर्शाता है। जिस प्रकार वर्षा से आम जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, वैसे ही पहले अंक में अम्बिका की मानसिक स्थिति अव्यवस्थित और क्षुब्ध है। वहीं, कल्पना-लोक में विचरण करने वालों को वर्षा सुहावनी लगती है, मल्लिका उसी का प्रतीक है। दूसरे अंक में घोड़ों की टापों की पास आती और दूर जाती ध्वनि अम्बिका, मल्लिका और विलोम के क्रमशः वितृष्णा, उतावलेपन और आशंका भाव को गहरे अर्थ प्रदान करती है। इस नाटक में मेघ गर्जन की ध्वनियाँ मनःस्थितियों के साथ गुँथ-मुंथ गयी हैं, भावना और पीड़ा इन ध्वनियों का सहारा पाकर घनीभूत हो उठती है।

ध्वनियों की सार्थक उपस्थिति 'लहरों के राजहंस' में भी है। पानी में पत्थर फेंकने का शब्द, हंसों के पंखों की फड़फड़ाहट और उनका आहत क्रन्दन जैसी ध्वनियाँ सुन्दरी द्वारा आयोजित कामोत्सव में खलल डालने व उसके असफल होने की आशंका को बल प्रदान करती हैं। नन्द और सुन्दरी के अन्तरंग क्षणों में तेज़ हवा का शब्द, कबूतरों का स्वर, खुटकबैया का लकड़ी पर चोंच मारने का स्वर – नन्द की भीतरी खलबली, संशयात्मक और असमंजस से परिपूर्ण मनःस्थिति को उघाड़ देने के लिए ही प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं।

'आधे-अधूरे' की तो शुरुआत ही सावित्री के 'ओहहोहहोहहोहहोह' के थकान-भरे स्वर से होती है, जो उसकी हताशा का सूचक है। इसके अतिरिक्त पुरुष-एक द्वारा सावित्री और बिन्नी की बातचीत के बीच फ़ाइलों को झाड़ने की 'थप-थप', छोटी लड़की द्वारा जले टोस्ट खाने से 'थू-थू', अशोक द्वारा कैची चलाने की 'चख-चख' आदि ध्वनियों का इस्तेमाल नाटक में मौजूद तनाव को गहराने के साथ परिवार के सदस्यों के आपसी व्यवहार का उद्घाटन भी करता है।

मोहन राकेश की नाट्य भाषा की एक ख़ास बात यह भी है कि तनाव के चरम क्षणों में वे किसी चरित्र को अकेला छोड़कर उसके स्वगत कथन में प्रश्नवाचकता भर देते हैं, मानो दर्शक को शामिल करके उस उलझी हुई स्थिति को सुलझाने का प्रयास कर रहे हों –

"*मल्लिका* : .... क्या जीवन को तुम मेरी दृष्टि से देख सकते हो? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं? मैंने क्या-क्या देखा है? क्या से क्या हुई हूँ ?"

* * *

"*सुन्दरी* : तुम ... कितने-कितने बिंदु खोजे हैं आज तक तुमने? जाओ, एक और बिंदु खोजो! कितने-कितने शब्दों में ढांपा है उन बिन्दुओं को? जाओ, कुछ और शब्द ढूँढ़ो। परन्तु अन्त में कहाँ रह जाते हैं तुम्हारे वे सब बिंदु? कहाँ चले जाते हैं तुम्हारे वे सब शब्द? फिर भी क्यों वही के वही बने रहते हो तुम?"

* * *

"*स्त्री* : कब तक और?"

जीवन में कई बार ऐसे क्षण आते है जब इन्सान स्वयं को विडम्बनात्मक स्थिति में पाता है। ऐसे में वह अपने आपसे और कई बार दूसरों से भी प्रश्न करता है। राकेश ने तनाव की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के मर्म को पकड़कर नाट्य भाषा में आज़माया। प्रश्नवाचकता के द्वारा एक ओर चरित्र की विश्वसनीयता बनी रहती है तो दूसरी ओर भाषा में त्वरा का गुण भी आ जाता है।

मोहन राकेश का नाट्य भाषा सम्बन्धी चिंतन भारतीय नाट्य परम्परा से उद्भूत होकर समकालीन संवेदना तक आया है। इस चिन्तन में आधुनिक समस्याओं से उत्पन्न भाव-स्थितियों को अखंडित रूप में अभिव्यक्त करने की छटपटाहट है। इसी छटपटाहट को राकेश ने उपयुक्त नाटकीय शब्दों, मौन, आधे-अधूरे वाक्यों, विशिष्ट सन्दर्भों में प्रयुक्त शब्दावली, विशिष्ट अभिव्यक्ति के लिए गढ़े गये शब्दों और इन सबमें मौजूद आतंरिक लय के नियोजन द्वारा पकड़ने की कोशिश की है। प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक सत्यदेव दुबे के शब्दों में – "शब्दों से राकेश का लगाव एक शानदार मनोग्रन्थि की हद तक था। यद्यपि अन्य भारतीय भाषाओं में दूसरे समकालीन लेखकों ने भी नये मुहावरे का समावेश किया है, पर कोई इस समस्या से राकेश की तरह गहराई से नहीं जूझा।"

आधुनिक हिन्दी नाट्य जगत में मोहन राकेश अकेले ऐसे नाटककार रहे, जिन्होंने नाट्य भाषा के सम्बन्ध में सुचिन्तित विचार रखे और उन विचारों को अपने नाटकों के माध्यम से प्रायोगिक जामा भी पहनाया। आधुनिक जीवन की विशिष्ट अनुभूतियों को अखंडित रूप में व्यक्त करने के लिए मोहन राकेश उपयुक्त शब्द की खोज में निरन्तर लगे रहे।

आशा
प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
अदिति महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पर्क: 467, मिलेनियम अपार्टमेंट्स, सेक्टर-18
रोहिणी, दिल्ली
मो. 9871086838
ईमेल: drasha.aditi@gmail.com

राकेश नाम

सावित्री को शिकायत है राकेश से

जयदेव तनेजा

'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' जैसे पुरस्कृत, प्रशंसित और श्रेष्ठ नाटकों के रचनाकार मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' हिंदी का शायद एकमात्र ऐसा नाटक है जो अंग्रेज़ी के साथ-साथ लगभग सभी रंग-समृद्ध भारतीय भाषाओं में सबसे ज़्यादा अभिमंचित, चर्चित एवं लोकप्रिय नाटक रहा है। मध्यवर्गीय परिवार के विघटन और स्त्री-पुरुष संबंधों के नरक का जीवन-चित्रण करने वाले इस नाटक पर 1969 में प्रकाशन के साथ ही, कथानक की घटनाहीनता, चरित्रों का इकहरापन, प्रस्तावना की अनावश्यकता, एक ही अभिनेता द्वारा पाँच भूमिकाएँ निभाने की रंगमंचीय युक्ति की निरर्थकता, अनुभव क्षेत्र की संकीर्णता और एक निष्क्रिय हताशा को जन्म देने वाले घातक नियतिवाद की प्रतिष्ठा करने, जैसे अनेक आरोप लगाए गए। इसे एक सतही, फ़ार्मूलाबद्ध व्यावसायिक नाटक तक कहा गया। परंतु इसके अनेक सफल प्रदर्शनों के बाद, जैसा कि वरिष्ठ नाट्य-निर्देशक इब्राहिम अल्काज़ी ने कहा है, ''समीक्षकों की यह धारणा उन दर्शक समुदायों ने झूठी साबित कर दी, जो एक ओर बड़ी संख्या में इसे देखने आए और दूसरी ओर बड़ी ही ग्रहणशीलता से इसकी विस्फोटक सघनता के सम्मुख नतशिर भी हुए। ऐसा नाटक जो लोकप्रियता के लिए कोई छूट नहीं देता, इस प्रकार की प्रतिक्रिया कैसे जगा सकता है, अगर कारण यही नहीं है कि वह अपना कथ्य पूरे प्रभाव के साथ संप्रेषित कर सका ?'' और इसके बाद, इसकी छोटी-बड़ी कई सीमाओं के बावजूद, इसे लगभग एकमत से 'मील का पत्थर' और समकालीन हिंदी या कि किसी हद तक भारतीय रंगकर्म की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि स्वीकार कर लिया गया।

परंतु अपने जन्म के समय से ही 'आधे अधूरे' की नायिका सावित्री को अपने चरित्रांकन के विषय में अपने रचनाकार से कई तरह की शिकायतें और आपत्तियाँ रही हैं। अपनी आरंभिक सफलता और अभूतपूर्व लोकप्रियता के नशे में पहले तो उसने इस ओर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया किंतु अब, अट्ठाइस साल बाद, बदले हुए समाज और परिवेश के संदर्भ में उसे वे शिकायतें बड़ी शिद्दत से महसूस हो रही हैं और बड़े आत्मविश्वास एवं साहस के साथ वह उन्हें अपने रचनाकार के सामने पेश भी कर रही है। तो आइए, अपने स्वभाव के विपरीत अभियुक्त के रूप में ख़ामोश बैठे राकेश और आरोपी के रूप में प्रस्तुत सावित्री की उनके प्रति शिकायतों को हम चुपचाप लेकिन गंभीरता से सुनें–

राकेश जी,

सावित्री के रूप में मेरी आपसे कई शिकायतें हैं। लेकिन उन्हें कहने से पहले मैं आपका आभार स्वीकार करना चाहती हूँ कि आपने मुझे त्याग और समर्पण की साकार प्रतिमा, गऊछाप स्त्री मल्लिका नहीं बनाया और न ही अपने अहंकार से पराजित सिसकती सुंदरी। मैं घर-परिवार के संबंध में आपके संस्कारों और छोटे-छोटे शहरों से उपजी मध्यवर्गीय नैतिकता के प्रभाव और परिवेश से भी परिचित हूँ। आपके समय के भारतीय समाज को देखते हुए मैं 'गुड़ियाघर' की नोरा बनने की तो कल्पना भी नहीं कर सकती थी। आपने मुझे संघर्षशील, आत्मनिर्भर और अपनी महत्त्वाकांक्षा तथा इच्छा के अनुरूप जीने की भरपूर कोशिश करने वाली जिस आधुनिक भारतीय नारी की पहचान दी, वह भी उस समय आप जैसा दुःस्साहसी व्यक्ति ही कर सकता था। परंतु आपसे मेरी सबसे बड़ी और बुनियादी शिकायत यह है कि घर-परिवार की बिगड़ती हुई स्थिति, संबंधों की टूटन और मूल्यों के विघटन की सारी ज़िम्मेदारी आप उस सावित्री पर कैसे डाल देते हैं जो निठल्ले चिड़चिड़े पति को निभाती है, जो अपने ही पुरुष- मित्र मनोज के साथ भाग कर विवाह करने वाली और कुंठित व असंतुष्ट होकर फिर से माँ के ही कंधों पर लद जाने वाली बेटी बिन्नी को सहारा और सहानुभूति देती है, जो माँ के संबंधों के कटु

आलोचक और जवान किंतु नाकारा बेटे अशोक को बर्दाश्त करती है, जो बदतमीज़ और बदमिज़ाज छोटी बेटी किन्नी की सुख-सुविधा और ज़रूरतों का भी ध्यान रखती है, जो पुरुष मित्रों को इसलिए घर बुलाती है कि बेटे की नौकरी का कुछ जुगाड़ हो और परिवार का भरण-पोषण ठीक से हो सके। कामकाजी महिलाओं के पुरुष - मित्र होना कोई अजीब या अनहोनी बात नहीं है, लेकिन आप जान-बूझकर इन संबंधों को कुछ ऐसा अस्पष्ट या धुँधला-सा छोड़ देते हैं कि इन खुले रिश्तों में मनचाहे रंग भर कर कई लोग मुझे फ़्लर्ट, कुलटा और वेश्या तक कहने-समझने की छूट लेते रहे हैं।

मैं मानती हूँ कि पुरुष - मित्रों से और विशेषतः जगमोहन से मेरे गहरे, आत्मीय और अंतरंग संबंध रहे हैं। मुझे इस आरोप से भी इंकार नहीं कि मैं महेंद्रनाथ को अपने अनुपयुक्त पाकर उसे छोड़ने और कोई नया रास्ता तलाशने की बार-बार कोशिश भी करती रही हूँ। लेकिन मैं ऐसी क्यों हूँ और ऐसा क्यों कर रही हूँ– इसके कारणों की तलाश करना आप ज़रूरी नहीं समझते। इस विषय में यह कहकर आप स्वयं को मुक्त और संतुष्ट कर लेते हैं कि, ''... कारण की बात करना बेकार है। कारण हर चीज़ का कुछ-न-कुछ होता है, हालांकि यह आवश्यक नहीं कि जो कारण दिया जाए, वास्तविक कारण वही हो।'' भले ही महेंद्रनाथ के बारे में ऐसा कतई न लगता हो, पर उस के वैसा बनने की पूरी जाँच-पड़ताल बड़ी बारीकी और चतुराई से करते हैं, क्योंकि ऐसा किए बिना आप उसे बेचारा और निर्दोष तथा मुझे गुनहगार सिद्ध कर ही नहीं सकते थे। हो सकता है कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से मेरे स्वभाव में भी कुछ चंचलता हो। लेकिन घर-परिवार से मेरा कोई मोह ही न हो और मैं उसे केवल अपने व्यक्तिगत सुख के लिए तोड़ना या छोड़ना चाहती होऊँ– यह इल्ज़ाम एकदम बेबुनियाद और गलत है। यदि यही सच होता तो पहली बार जगमोहन के मामले में यह निर्णय मैं आसानी से कर सकती थी।

घर से गहरे लगाव और बच्चों से प्यार के कारण ही बाईस वर्षों तक मैं महेंद्रनाथ की पागलपन की हद तक पहुँचती हुई ज़्यादतियाँ और अमानवीय व्यवहार सहती रही, पर आपने तो मुझे उन बच्चों की नज़र तक में गिरा दिया। मेरा बेटा अशोक ही यदि एकदम निर्मम होकर मुझे घर छोड़ने को मजबूर न करता तो अब भी यह निर्णय शायद मैं न कर पाती। इसके अलावा महेंद्र और मेरी उम्र में दस साल का अंतर रखना आपको क्यों ज़रूरी लगा। उम्र और हालात से पिट-हार कर वह पचास साल में ही बुढ़ा गया है जबकि आपके ही शब्दों में मेरे चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष है। आप तो मेरी भावनात्मक और जीववैज्ञानिक नैसर्गिक ज़रूरतों को भी मेरी दुष्चरित्रता का प्रमाण मान लेने के पक्ष में हैं। बिल्कुल यही बात माँ-बेटी के रिश्तों को लेकर भी है– आपकी अस्पष्टता या असावधानी का फ़ायदा उठाकर ही श्यामानंद जालान जैसा निर्देशक बिन्नी - सावित्री के संबंधों में ईर्ष्या और प्रतियोगिता की भावना दिखाने की कोशिश कर सका, जिससे प्रतिभा अग्रवाल जैसी संस्कारी-सम्भ्रांत अभिनेत्री को हमेशा मेरी भूमिका निभाने में असुविधाजनक असहजता महसूस हुई।

वर्ष 1973 में सावित्री की भूमिका में मीरा आनन्द : निर्देशक अरुण कुकरेजा।

व्यक्तिगत वैशिष्ट्य देने के स्थान पर जातिगत रूप देकर आपने जो मुझे 'ख़ास से आम' बनाने की कोशिश की है– मेरे विचार से वह भी सही नहीं है। कितनी स्त्रियाँ ऐसी होंगी, जिनका घर, पति और जवान बेटा होने के बावजूद सिर्फ़ पत्नी की कमाई पर ही चलता हो ? फिर भी आपका आग्रह है कि इसे सामान्य घर-परिवार मान लिया जाए। मैं आपकी इस बात से कतई सहमत नहीं हूँ कि परिस्थितियाँ– ख़ासकर आर्थिक परिस्थितियाँ– बदल जाने से नाटक के कथ्य, रूप और प्रभाव पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता। मेरा तो यह भी मानना है कि महेंद्रनाथ के अलावा शेष तीनों पुरुष अपना अलग-अलग रूप, स्वभाव और व्यक्तित्व रखते हैं और उनमें से कोई भी दूसरा मेरे साथ होता तो घर-परिवार की स्थिति और मेरी अपनी ज़िंदगी ठीक ऐसी ही

बिल्कुल नहीं होती। इसलिए मैं आपकी इस मूल स्थापना से ही असहमत हूँ कि, ''सब-के-सब... सब-के-सब एक से। बिल्कुल एक-से हैं आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा ?– चेहरा सबका एक ही।'' यह अलग बात है कि जगमोहन और मेरे संबंधों को लेकर जुनेजा अपने वाग्जाल से मुझे जिस अपमान, विक्षोभ और उत्तेजना के चरम-बिंदु तक पहुँचा देता है, वहाँ मेरा यह विस्फोट कतई झूठा और अविश्वसनीय नहीं लगता। यह मेरे जीवन-संघर्ष की स्वाभाविक परिणति नहीं, आपके मायावी संवादों और रंग-कौशल का ही कमाल है।

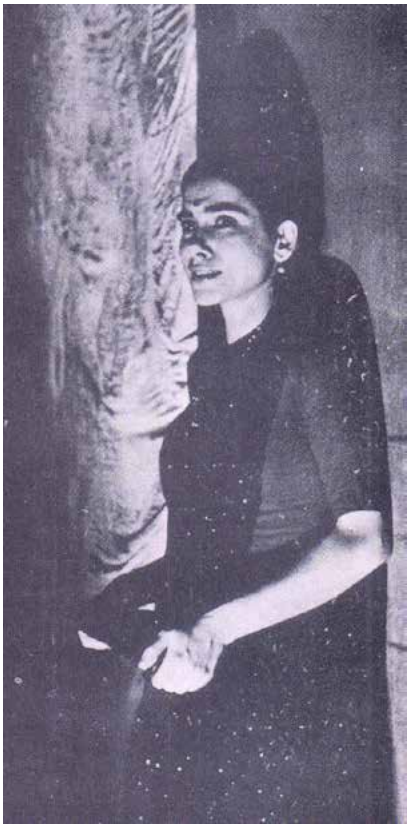

वर्ष 1976 में सावित्री का किरदार निभातीं सुरेखा सीकरी : निर्देशक अमान अल्लाना।

राकेश जी, आपने अपनी लगभग सभी रचनाओं में स्त्री के मुकाबले हमेशा पुरुष और उसके अहंकार का ही पक्ष लिया है। शायद यही कारण है कि 'आधे अधूरे' की प्रस्तावना में काले सूट वाले आदमी का यह दावा है कि ''मैं इससे हूँ और मेरे होने से ही सब कुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित है। एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ। परिवार दूसरा होने से परिस्थितियाँ बदल जातीं, मैं वहीं रहता। इसी तरह सब कुछ निर्धारित करता।'' मुझे अजीब नहीं लगता। लेकिन सवाल यह है कि पुरुष को इतना महत्त्वपूर्ण और परिस्थितियों के प्रभाव को इतना महत्त्वहीन मानने के बावजूद, महेंद्रनाथ की असफलता, असमर्थता और बेचारगी, बिन्नी के घर से भागने और लौटने, किन्नी के बिगड़ने और अशोक के नाकारा एवं कटु होने का संपूर्ण उत्तरदायित्व आप मुझ पर किस तर्क एवं आधार से लाद देते हैं ? क्या ज़िंदगी में यथासंभव पूरेपन की तलाश अथवा उपलब्ध से कुछ अधिक और बेहतर पाने की आकांक्षा सचमुच इतना ही बड़ा गुनाह है जितना बड़ा आपने 'आधे अधूरे' के अंत में जुनेजा के माध्यम से कहने और सिद्ध करने की कोशिश की है। यदि यह सच है तो फिर कालिदास और नंद दोषी क्यों नहीं हैं? उनके प्रति आपकी सहानुभूति क्यों है ? क्या ईमानदारी से अपने दिल पर हाथ रखकर अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर आप स्वयं को भी इस दृष्टि से निर्दोष और पाक-साफ़ कह सकते हैं ? क्या यह सीमा, मर्यादा, संयम, सहनशीलता और हर हाल में संतुष्ट रहने का नियम सिर्फ़ स्त्री के लिए ही है ? स्त्री और पुरुष के लिए इन दोहरे मानदंडों और आपकी इस मध्ययुगीन मानसिकता को मैं मानने से इंकार करती हूँ। कैसा मज़ाक है यह कि महेंद्रनाथ जैसा दब्बू, पर-निर्भर और लिजलिजा-सा व्यक्तित्वहीन पुरुष दरिंदा बन कर जब-तब पत्नी को मारता-पीटता रहता है और सावित्री जैसी दबंग और आत्म- निर्भर स्त्री बाईस साल तक उस दरिंदगी को चुपचाप बर्दाश्त भी करती रहती है। आज की स्वतंत्र एवं कामकाजी औरत के संदर्भ में इसे कौन-सा विज्ञान या शास्त्र विश्वसनीय कह सकेगा ?

आपको याद होगा कलकत्ता में 'लहरों के राजहंस' के पुनर्लेखन के समय आपने एक बार नंद पर भारी पड़ती सुंदरी को मार कर समस्या को हल करने की कोशिश की थी। परंतु इस जीवंत चरित्र के हाथों पराजित और विवश हो कर यह स्वीकार कर लिया था कि ''सुंदरी हमारे प्रयत्न से केवल मरने का अभिनय कर सकती है, मर नहीं सकती।'' और पूरी इच्छा और कोशिश के बावजूद आप उसे मार नहीं पाए थे। मैंने आपसे कभी शिकायत नहीं की लेकिन आज आपसे ये प्रश्न अवश्य पूछना चाहती हूँ कि नाटक के अंत में मेरे और महेंद्रनाथ के बीच जुनेजा को क्यों ले आए ? पति-पत्नी की सीधी भिड़ंत क्यों नहीं होने दी ? आप शायद डर गए कि मेरे भोगे गए यथार्थ और प्रखर तर्कों के समक्ष आपका पुरुष टिक नहीं पाएगा। काइयाँ जुनेजा असली बात शुरू करने से पहले ही, मेरी उसके प्रति बाईस साल पहले की कमज़ोरी का हवाला देकर, मेरे मनोबल को आधा-चौथाई कर देता है। अपने उसी अधिकार और झूठी शक्ति के बल पर वह मनोज से मेरे संबंधों को मनमाना रूप देकर और जगमोहन तथा मेरी मुलाकात संबंधी अपने विशुद्ध अनुमान को अपनी स्थिति का फ़ायदा

उठाते हुए, विश्वसनीय, प्रामाणिक एवं संपूर्ण सत्य सिद्ध करके मेरी अपनी ही जवान बेटी के सामने मुझे एकदम सत्वहीन और दुश्चरित्र सिद्ध कर देता है। इसकी जगह यदि महेंद्र को आपने मेरे सामने आने दिया होता तो मैं आपको यकीन दिलाती हूँ कि तब वास्तविक अपराधी के कटघरे में वही खड़ा होता और आपके बड़े-से-बड़े शब्द, तर्क और सिद्धांत भी उसे निर्दोष साबित नहीं कर पाते। उसमें मुझसे आँख मिलाकर बात करने की हिम्मत ही न होती, क्योंकि सचमुच कितना कुछ है ''जो सावित्री कभी किसी के सामने नहीं करती।'' आप मानें या न मानें, लेकिन अपने मन में तो यह स्वीकार करते ही होंगे कि अपनी बात कहने का पूरा और समान अवसर न देकर आपने मेरे प्रति सरासर अन्याय किया है।

मुझे आपसे इस बात की ज़बरदस्त शिकायत है कि आपने मुझे इकहरा व्यक्तित्व क्यों प्रदान किया ? क्या कोई भी स्त्री हमेशा ऊबी, थकी, तनावग्रस्त और आक्रामक बनी रह सकती है ? असंतोष, झल्लाहट, कड़ुवाहट और असामंजस्य, सब कुछ समझ में आता है– लेकिन सबके लिए हर वक्त इस एक ही मनःस्थिति में बने रहना– यह कैसे संभव है? अलग परिस्थितियों के बावजूद हमारी ही त्रासदी को बिन्नी- मनोज में दोहराने की ज़रूरत मेरी समझ में नहीं आती। इसमें सिवाए पहले से सोचे-समझे निष्कर्ष को सिद्ध करने के दुराग्रह के अलावा और कुछ भी नहीं है। 'नो एग्ज़िट' की स्थिति अभी हमारे यहाँ नहीं आई है। लेकिन आपने अपने निराशावादी नियतिवाद के चलते इंसानी कोशिश, इच्छा-शक्ति और संघर्ष के तमाम रास्ते ही बंद कर दिए हैं। आज की सावित्री के लिए तलाक लेना, अकेले रहने का निर्णय करना या विवाहेतर संबंध रखना उतना असंभव नहीं है, जितना आपको लगता है। मेरा सौभाग्य है कि कथा साहित्य के बजाए मैं नाटक की चरित्र हूँ, जिसे बदलते समय के साथ निर्देशक और कलाकार अपनी-अपनी व्याख्यानुसार थोड़ा-बहुत बदलते भी रह सकते हैं। लेकिन राकेश जी, आपकी ज़्यादती और ज़बरदस्ती की हद तो यह है कि यह सब आपने जीवंत रंग-भाषा और संवादलय से ही नहीं किया, मुद्रा, गति, स्थान, मौन तक के निश्चित और विस्तृत रंग-निर्देशों से मुझे इस तरह जकड़ दिया है कि मैं लाख चाहने पर भी कुछ नहीं कर सकती। अमाल अल्लाना और विशेषतः त्रिपुरारी शर्मा ने अपनी निर्देशकीय सूझ-बूझ एवं कल्पनाशीलता से मुझे किंचित बंधन-मुक्त कर स्वाभाविक और सहज बनाने की सार्थक कोशिश की, भाई-बहनों के रिश्तों को भी अधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न हुआ। बंजर घर में थोड़ी हरियाली दिखाई दी। लेकिन 'आधे अधूरे' के पाठक उसके प्रकाशित आलेख से और अधिकांश दर्शक-समीक्षक आपकी परिकल्पना के सर्वथा अनुकूल की गई सावित्री की पूर्व-भूमिकाओं से इतने प्रभावित और आक्रांत हैं कि आपकी इच्छा-विरुद्ध उन्हें मेरा अपने आप एक लंबी साँस तक लेना नागवार गुज़रता है। राकेश जी, आप मेरे सृष्टा हैं, आपने जैसा चाहा, मुझे बनाया और मैं बदलते ज़माने के साथ वही बने रहने के लिए अभिशप्त भी हूँ। लेकिन कुल मिलाकर, सारी शिकायतों के बावजूद, मैं आपकी शुक्रगुज़ार भी हूँ कि आपने समकालीन परिवेश में आधुनिक भारतीय स्त्री के बदलते हुए रूप को पेश करने की एक ज़रूरी और सार्थक पहल तो की।

सती सावित्री वाले पौराणिक नाम और ऐसे चरित्र के बावजूद अपने दर्शकों- पाठकों से जो सहानुभूति, प्रशंसा और मुहब्बत मुझे मिली, उसके लिए मैं सचमुच आपकी आभारी हूँ, राकेश जी !

आपकी
सावित्री

जयदेव तनेजा
रंग समीक्षक
सम्पर्क: 165 ए नेहरू अपार्टमेन्ट्स
आउटर रिंग रोग, नयी दिल्ली - 110019
मो. 9899547647
ईमेल: jaidevtaneja@gmail.com

पीछे छूट जाने वाले सवाल ही होते हैं ' सबसे बड़े सवाल '

मृत्युंजय प्रभाकर

मोहन राकेश (1925-1973) हिंदी साहित्य के उन ख्यात नामों में शुमार हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य को एकाधिक धाराओं में समुन्नत किया है। हिंदी में ' नई कहानी ' जैसी धारा के प्रवर्तक और उसे अपनी रचनाओं से संपुष्ट करने वाले मोहन राकेश ने अपने उपन्यासों और नाटकों के ज़रिए भी हिंदी साहित्य को अपना श्रेष्ठ दिया है। हिंदी के नाटककारों में तो मोहन राकेश अन्यतम हैं। उनके द्वारा लिखित ' आषाढ़ का एक दिन ', ' लहरों के राजहंस ' और ' आधे-अधूरे ' जैसे पूर्णकालिक नाटकों ने आधुनिक हिंदी नाट्य धारा को एक नई ऊंचाई दी है। आज़ादी पूर्व और बाद के हिंदी नाट्य लेखन की धारा को देखें तो जितने भी लेखक हमें दिखलाई पड़ते हैं उनमें मोहन राकेश श्रेष्ठतम हैं। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से हिंदी नाट्य धारा को वह गरिमा प्रदान की कि आज दूसरी भाषाओं के नाटकों के समक्ष हिंदी के नाटक कंधे से कंधा मिलाए खड़े दिखते हैं। अपने शिल्प, भाषा, पात्र और नाटकीय गठन में मोहन राकेश के नाटक दुनिया के किसी भी नाटककार के समकक्ष हैं। यही कारण है कि मोहन राकेश लिखित नाटकों के न सिर्फ़ भारतीय भाषाओं में बड़े पैमाने पर अनुवाद हुए बल्कि दुनिया भर की भाषाओं में उनके नाटकों के अनुवाद प्राप्त होते हैं। अगर प्रदर्शन की बात की जाए तो उनके नाटकों के मंचन की सूचना देश भर से निरंतर आती ही रहती है।

लेकिन यह तो हुई पूर्णांक नाटकों की बात। जो लोग मोहन राकेश के काम से अच्छी तरह वाकिफ़ हैं वो जानते हैं कि एकांकी नाटक भी उन्होंने खूब लिखे हैं और इसमें भी उन्हें महारत हासिल है। दरअसल, कहना तो यह चाहिए कि एकांकी नाटकों की सफलता और स्वीकार्यता ने ही उन्हें पूर्णांक नाटक लिखने की प्रेरणा दी। जालंधर में रहकर कॉलेज में पढ़ाते हुए आकाशवाणी के जालंधर केंद्र के लिए उन्होंने कई एक एकांकी नाटक लिखे थे। तब के दौर में आकाशवाणी के लिए एकांकी नाटक लिखने का काम बहुत सारे साहित्यकारों ने किया है। उसकी मुख्य वजह यह थी कि तब रेडियो पर प्रसारित होने वाले नाटकों के कार्यक्रम बहुत ही लोकप्रिय हुआ करते थे और उनके श्रोता लाखों में होते थे। इसलिए आकाशवाणी के सारे केंद्र इस तरह के नाटक प्रसारित किया करते थे। यह स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद का समय था और हिंदी साहित्य तब अपनी जड़ें जमा रहा था। साहित्य सेवियों की जमात भी तब बहुत बड़ी नहीं हुआ करती थी। ऐसे में लेखकों को पकड़-पकड़ कर उनसे रेडियो नाटक लिखवाए जाते थे। यह सुनने-पढ़ने में आश्चर्य का अनुभव हो सकता है कि हिंदी के दूसरे श्रेष्ठ नाटककार धर्मवीर भारती लिखित नाटक 'अंधा युग' भी दरअसल एक रेडियो नाटक ही है।

इन एकांकी नाटकों की सफलता और लोकप्रियता की दूसरी बड़ी वजह छोटे-छोटे शिक्षण संस्थान, स्कूल, कॉलेज आदि थे। इनके सालाना उत्सवों और अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों में तब इन एकांकी नाटकों के मंचन का प्रचलन ख़ूब था। इसके पीछे की वजह यह थी कि ये नाटक एक तो कम समय के होते थे जिसके कारण आसानी से दूसरे कार्यक्रमों के साथ मिश्रित हो जाते थे। दूसरी बड़ी वजह यह थी कि इन छोटे नाटकों के ज़रिए बच्चों या युवाओं या अप्रशिक्षित अभिनेताओं को अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिल जाया करता था। छोटे नाटकों की तैयारी भी पूर्णांक नाटकों से कम जटिल प्रक्रिया थी। इसके अभिनेता भी कम तैयारी में इसके पात्रों के साथ न्याय कर सकते थे जबकि पूर्णांक नाटकों के जटिल चरित्रों को साधना अपरिपक्व अभिनेताओं के बस का नहीं था। इन सब वजहों से भी एकांकी नाटक ख़ूब लिखे और मंचित हुआ करते थे।

अब यह तो स्पष्ट है कि मोहन राकेश लिखित ' सबसे बड़ा सवाल ' एक एकांकी नाटक है। यह एकांकी उनके 'अंडे के छिलके' संग्रह का हिस्सा है जो मोहन राकेश की मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में प्रकाशित होने के पूर्व यह एकांकी तब की बहुत ही चर्चित पत्रिका ' धर्मयुग ' में प्रकाशित हो चुका था, जिसके सम्पादन का ज़िम्मा मोहन राकेश के मित्र और साहित्यकार व नाटककार के तौर पर सम्मानित धर्मवीर भारती के कन्धों पर था।

अपने आवरण और कलेवर में यह नाटक भले ही छोटा हो लेकिन अपनी बात कहने में मोहन राकेश की अन्य एकांकियों की तरह ही इसका भी कोई सानी नहीं है। नाटक के शिल्प की अगर

बात की जाए तो जैसा कि एकांकी नाटक का गुण होता है, यह एक अंकीय नाटक है, जबकि पूर्णांक नाटकों में एकाधिक अंक होते हैं। पूर्णांक नाटकों का वितान भी बड़ा होता है जिसके कारण उसमें घटनाक्रम और घटना के स्थान भी एकाधिक होते हैं। कई सारे पूर्णांक या एकांकी नाटकों में तो बहुत सारे घटनाक्रम और स्थान दर्शाए जाते हैं। हालाँकि नाटक के मंचन की दृष्टि से यह अच्छा नहीं माना जाता क्योंकि एक दृश्य के मंचन के बाद दूसरे दृश्य की मंचीय स्थापना में समय लगता है और उससे नाटक का प्रदर्शन बाधित होता है। इसलिए यह बेहतर माना जाता है कि नाटक में घटनाक्रम भले ही अनेक हों लेकिन घटना के स्थान ज़्यादा न हों। इससे नाटक के मंचन में बड़ी सुविधा हो जाती है। ' सबसे बड़ा सवाल ' एकांकी की बात करें तो इस नाटक में सिर्फ़ और सिर्फ़ घटना का एक ही स्थान है वह है स्कूल का क्लासरूम। ऐसे में इस लिहाज़ से यह नाटक बहुत अच्छा है। कारण कि बार-बार नाटक का सेट बदलने से मुक्ति तो प्रदर्शनकारियों को मिल ही गई है साथ ही साथ क्लासरूम के दृश्य को रचने में भी कोई ख़ास मशक्कत करने की ज़रूरत नहीं है। अगर नाटक का मंचन स्कूल-कॉलेज में ही हो रहा हो, तब तो बाहर से कुछ भी लाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अगर एकांकी की इस शिल्पगत विशेषता की बात करें तो यह एकांकी बिल्कुल ही खरा उतरता है।

राम भरोसे और श्याम भरोसे का नाम ही बहुत सांकेतिक है जबकि अन्य पुरुष पात्रों में कोई शर्मा है, कोई कपूर तो कोई प्रेम प्रकाश या दीन दयाल। यही हाल महिला पात्रों का भी है। उनका भी कोई सरनेम नहीं है। वे मात्र मनोरमा, संतोष या गुरप्रीत हैं।

यह इस मध्य वर्ग की बेईमानी के अलावा और क्या हो सकता है कि लो ग्रेड वर्कर्स वेलफ़ेयर सोसाइटी की बैठक हो रही है, जो निम्न वर्ग के सेवा कर्मियों के लिए सरकार से सस्ते मकान बनवाना चाहती है, मगर राम भरोसे और श्याम भरोसे जैसे आय के सबसे निम्न स्तर पर काम करने वाले लोग उस मीटिंग का हिस्सा नहीं हैं। यहां तक कि उसी मीटिंग के लिए हॉल तैयार करते हुए भी उन्हें इस बात की ख़बर तक नहीं है कि अभी जो बैठक होने वाली है और जिसके लिए वो अपनी जान खपा रहे हैं, वह उनसे भी जुड़ा है। तभी तो राम भरोसे कहता है–

''ससुरी रोज-रोज ये मीटिंग होंगी, तो किसकी जान रहेगी? आज एक का जन्म दिवस होकर निकलता है, तो कल दूसरे का मरण दिवस आ जाता है। जन्में-मरें ये, धूल खाएं राम भरोसे, श्याम भरोसे।''

यही वह बौद्धिक बेईमानी है जो मध्य वर्ग के लोगों ने गरीब, शोषित, पीड़ित जनता के साथ निरंतर बरती है। वह एक तरफ़ उनके नुमाइंदे बन खड़े होते हैं, दूसरी तरफ़ उन्हें पता भी नहीं लगने देते कि चल क्या रहा है और फिर सारी मलाई भी खुद ही मार जाते हैं।

बहरहाल, अगर इस नाटक के शुरुआती दृश्य पर ध्यान दें तो हमें समझ आता है कि राम भरोसे और श्याम भरोसे से आरंभ होने वाला यह दृश्य एक तरफ हास्य का पुट लिए हुए है दूसरी तरफ वह इस वर्ग के जीवन, संघर्ष और काम की विडंबना को भी दर्शाता है। उनका जीवन ही नहीं बल्कि काम भी बिल्कुल ही एकरस वाला है। वह भी मात्र रंगहीन नहीं बल्कि गंदगी, बदबू और सड़ांध से भरा हुआ। ऐसे में भला कोई कैसे अपने काम से प्यार कर सकता है। कैसे कोई अपने काम के प्रति तत्परता या ईमानदारी का भाव रख सकता है। सफ़ाई कर्मचारियों की विडंबना राम भरोसे के इस संवाद से साफ़ हो जाती है जब वह कहता है–

'' सवेरे निकालो, तो शाम को चली आती है। शाम को निकालो, तो सवेरा नहीं होने देती। ''

यही हाल हम देखते भी हैं जब धूल हटाकर कमरे को मीटिंग के लिए तैयार करने वाले राम भरोसे और श्याम भरोसे को मीटिंग ख़त्म होने के बाद कमरे में बिखराया गया कूड़ा साफ़ करना होता है, जो मीटिंग के दौरान बाबू लोग फैला गए हैं। वही कूड़ा जो मध्य वर्ग अपने इर्द-गिर्द इकट्ठा करता रहता है, फेंकता रहता है। यह कूड़ा आचार, व्यवहार और विचार तीनों का ही है। यह कूड़ा जो उनके वैचारिक स्खलन, अनैतिकता, लोभ, बेईमानी, ईर्ष्या, द्वेष और निकम्मेपन से उपजा है। भला इस कूड़े को राम भरोसे और श्याम भरोसे जैसे लोग कब तक ढोते या साफ़ करते रहें। इस व्यंजना को मोहन राकेश ने बख़ूबी इस छोटे से दृश्य में मात्र चंद संवादों के माध्यम से पकड़ा हैं। यही कारण है कि यह दृश्य व्यंगात्मक और कारुणिक दोनों प्रभाव एक साथ समेटे जान पड़ता है।

अगर इस दृश्य पर गौर फ़रमाएं तो पता चलता है कि हमने ऐसा ही दृश्य कहीं और किसी रूप में देखा है। अगर हम मोहन राकेश लिखित नाटक ' आषाढ़ का एक दिन ' याद करें तो उसके द्वितीय अंक के प्राथमिक दृश्य में अनुस्वार और अनुनासिक की ऐसी ही छवि हमें देखने को मिलती है, जहां प्रियंगुमंजरी के मल्लिका के घर में प्रवेश के पूर्व वे सारा सामान पहले व्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं और फिर उन्हें वैसे ही छोड़ देने में बेहतरी समझते हैं जैसे वो हैं। यहां राम भरोसे और श्याम भरोसे भी बिल्कुल ऐसा ही रुख अपने काम को लेकर रखते हैं। इसलिए जब शर्मा मास्टर की कुर्सी की सफ़ाई को लेकर उन्हें उलाहना देता है और कहता है–

''यह सफाई की है? देखो, कितनी धूल जमी है यहां। सफाई इस तरह से की जाती है?''[2]

तब राम भरोसे शर्मा को टका सा जवाब देता है–

''क्या पता साहब, किस तरह से की जाती है। किसी स्कूल से इस काम की पढ़ाई तो पढ़े नहीं हैं।'' [3]

यह संवाद यूं तो बहुत संक्षिप्त पर बेहद ही सारगर्भित है। एक तरफ राम भरोसे इस संवाद से अपने काम के प्रति अरुचि का प्रदर्शन करता है दूसरी तरह किसी प्रशिक्षण से इनकार भी करता है। ऐसे में काम में गलती का होना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। साथ ही साथ, वह छुपे रूप में शर्मा जैसे लोगों पर व्यंग्य भी कर रहा है जो अच्छी पढ़ाई और प्रशिक्षण के बावजूद अपना काम ठीक से करना नहीं जानते हैं। न ही कभी अपना काम वो मेहनत और ईमानदारी से करते हैं। ऐसे में समाज के निचले तबके और बिना किसी पढ़ाई और प्रशिक्षण के काम करने वाले लोगों से ऐसे लोग उम्मीद करते हैं कि उनके काम में कोई खोट या गड़बड़ी नहीं दिखनी चाहिए।

हमारा समाज अपने गठन और अपने आचार-विचार में निहायत ही सामन्ती रहा है। उसके मूल्य और आदर्श सामंती आग्रहों से या कहें दुराग्रहों से संचालित हैं। कहने को भले ही हम आज़ाद हो गए हैं लेकिन आज़ादी, स्वतंत्रता और बंधुत्व का कोई मूल्य हमारे आचरण में कम ही दिखता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भले ही हमारे देश के रहनुमाओं ने एक लोकतान्त्रिक, धर्म निरपेक्ष और बराबरी के समाज की कल्पना की और संविधान में सबको बराबर के अधिकार दिए लेकिन इन मूल्यों का देश के नागरिकों के जीवन में कोई मतलब नहीं रहा। वह सिर्फ संविधान की धाराएँ बनकर रह गईं। धर्म, जाति और लिंग के आधार पर गढ़ा गया भेदभाव आज़ादी के उपरान्त भी नागरिकों के जीवन में बना ही रहा। यही भेदभाव उच्च और निम्न वर्ग के बीच देखने में आता है। स्त्री-पुरुष के बीच के भेदभाव को पाट पाना तो अब भी असंभव ही जान पड़ता है। यही हालत मोहन राकेश के समय में भी थे और वही हालात आज भी बने हुए हैं।

इस एकांकी की बात करें तो देश के नागरिकों के जो मूल्य बने हुए हैं वो हमें यहाँ साफ़-साफ़ नज़र आते हैं। निम्न वर्ग के प्रतिनिधि पात्र के तौर पर उपस्थित राम भरोसे और श्याम भरोसे से नाटक के दूसरे पात्र ढंग से बात तक नहीं करते और वो चाहते हैं कि ये पात्र यांत्रिक तौर पर अपने काम बेहद ईमानदारी से करते रहें। बाबू वर्ग के इन लोगों को लेट भी आना है और जल्दी भागने की हड़बड़ी भी है। लेकिन राम भरोसे और श्याम भरोसे इनके जाने के बाद भी कमरे में इनके द्वारा फैलाया गया कूड़ा साफ़ करने के बाद ही घर जा पाएंगे क्योंकि उन्हें क्लासरूम को अगले दिन के लिए तैयार करके जाना है। उस पर भी बाबू वर्ग को इन पर अपना धौंस ही दिखाना है। इन्हें इंसान समझकर इनसे ढंग से कोई बात तक नहीं करना चाहता। यह स्थिति तब है जब निम्न आय वर्ग के लोगों को मकान उपलब्ध करवाने की मांग को लेकर ही बैठक हो रही है। और उनके साथ ऐसा व्यवहार उन्हीं लोगों के हाथों हो रहा है जो राम भरोसे और श्याम भरोसे जैसे लोगों की नुमाइंदगी का दावा भी रखते हैं।

नाटक में राम भरोसे को चाय और मूंगफली लाने के लिए सचिव शर्मा और कपूर द्वारा भेज दिए जाने के बाद सभा के सदस्यों के बीच जो बात होती है उससे पता चलता है कि इस बाबू वर्ग के लोगों के मन में राम भरोसे और श्याम भरोसे जैसे लोगों के लिए कितनी कुंठा और हेय भावना है। आइए, देखते हैं–

''*कपूर* : क्यों शर्मा, लो ग्रेड में ये लोग नहीं आते ?

शर्मा : आते हैं।

कपूर : तो इन्हें भी मेम्बर नहीं होना चाहिए? लो ग्रेड वर्कर्स वेलफेयर सोसाइटी जैसे हमलोगों की है, वैसे ही इन लोगों की भी है।

मनोरमा : है तो नहीं, पर होना चाहिए।

सन्तोष : तब राम भरोसे चेयरमैन हो जाएगा और श्याम भरोसे सेक्रेटरी।

कपूर: फिर चाय लाने कौन जाएगा? शर्मा?'' [4]

इन संवादों से बिल्कुल ही स्पष्ट है कि लो ग्रेड वर्कर्स सोसाइटी की नुमाइंदगी का दावा करने वाले लोगों की असली मानसिकता कितनी घृणित है। दरअसल, यह समाज के तलछट से आए लोग नहीं हैं। न ही इनके मन में समाज के तलछट के लोगों की कोई कीमत या सम्मान है, न ही ये लोग उनके श्रम का सम्मान करते हैं क्योंकि यह ख़ुद उस समाज से आते हैं जिन्होंने हमेशा दूसरों के श्रम का दोहन कर अपना जीवन आरामतलबी करते हुए गुज़ारा है। मानव श्रम के प्रति इनके मन में घृणा ही घृणा है। ऐसे में ये लोग न सिर्फ़ ख़ुद कामचोर हैं बल्कि श्रम करने वालों से नफरत भी पाले बैठे हैं। बैठक में जिस तरह ये लोग एक-दूसरे को नीचा दिखाने, दूसरों की हूल-हुज्जत करने और बात का बतंगड़ बनाने का काम करते हैं उससे स्पष्ट होता है कि इन्हें अपने उद्देश्य से कोई वास्ता नहीं है। इन्हें फ़िक्र है तो बस अपनी झूठी इज़्ज़त, शान, शेख़ी, इर्ष्या, द्वेष और लालच की जिसके वशीभूत होकर ये इस सभा में आते हैं और अपने-अपने कारनामे दिखाते हैं। बैठक समाप्त होने के बाद राम भरोसे और श्याम भरोसे की बातचीत में बैठक के नतीजे का जो खांचा खिंचता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बैठक में चलने वाली बातचीत और बैठक का नतीजा कितना बेमानी और बेफ़िज़ूल की कवायद है। आइए, देखते हैं–

राम भरोसे : उठ भइया, श्याम भरोसे ! तमाशा ख़त्म हुआ।

श्याम भरोसे : (*जाग कर*) बाबू लोग चले गए?

राम भरोसे : चले गए।

श्याम भरोसे : क्या-क्या पास कर गए?

राम भरोसे : पास कर गए कि राम भरोसे, राम भरोसे के घर रहेगा; श्याम भरोसे, श्याम भरोसे के घर में। और बाबू लोग अपने-अपने घर में रहेंगे।

(*श्याम भरोसे की आँखें फ़ैल जाती हैं।*)

श्याम भरोसे : और?

राम भरोसे : और कि मूंगफली के आधे छिलके राम भरोसे साफ़ करेगा, आधे श्याम भरोसे। '' [5]

राम भरोसे और श्याम भरोसे को पता है कि इन बाबू लोगों की बैठकों में कुछ होना नहीं है क्योंकि ये उनकी आदतों और हरकतों से परिचित हैं। यही कारण है कि पूरी एकांकी में राम भरोसे और श्याम भरोसे इन बाबू लोगों से भरपूर मुंहजोरी करते हैं। इस तरह मोहन राकेश ने दर्शाया है कि श्रमजीवी समाज अपना काम और अपना सम्मान करना ख़ुद सीख चुका है। इसके लिए वह अब दूसरों की तरफ नहीं देखता क्योंकि वह उनकी हकीक़त अच्छी तरह जानता है। यह वर्ग अपना काम जानता है और उसे जितना सम्भव हो उतनी ईमानदारी से निभाता भी है। उस पर कोई टीका- टिप्पणी करे तो टका-सा जवाब देने से भी नहीं हिचकता क्योंकि वह जानता है कि टिप्पणी करने वाला अपना काम कभी सही ढंग से नहीं करता।

स्त्री और पुरुष के बीच के भेदभाव और पुरुषों की महिलाओं के प्रति सोच की बात करें तो यह नाटक कम समय में ही पुरुषों की कलई खोलकर रख देता है। स्त्रियों के प्रति पुरुषों की फूहड़ सोच और उनकी यौनिकता से जुड़े सवाल मोहन राकेश अपने इस एकांकी में भी पुरज़ोर तरीके से उठाते हैं। नाटक की महिला पात्र बैठक में आ तो रही हैं लेकिन पुरुषों की कुदृष्टि का शिकार भी हो रही हैं। यही कारण है कि वह बैठक में ख़ुद को सहज महसूस नहीं कर पातीं और यथाशीघ्र वहां से भाग निकलती हैं। नाटक के बीच कई बार ऐसे प्रसंग उठते हैं जो व्यक्तिगत श्रेणी के हैं और स्त्रियों के ऊपर लांछन की तरह आते हैं। संबोधन के आरम्भ में भाइयों एवं बहनों बोला जाए या बहनों एवं भाइयों इसकी परिणति भी कुछ ऐसी ही होती है। आइए, देखते हैं–

''*सत्यपाल* : बहनो और भाइयो, यह एक झूठा स्टेटमेंट नहीं है?

दीन दयाल : बात करने का मुहावरा ऐसा है, यार।

सत्यपाल : लेकिन यह झूठा मुहावरा नहीं है? क्या शर्मा साहब कह सकते हैं कि जितनी महिलाएं यहाँ बैठी हैं .....!

प्रेम प्रकाश : आप पर्सनल बातें बीच में नहीं ला सकते।''[6]

बात-बात में सभा में उपस्थित पुरुष पात्र ऐसी छिछली बातचीत पर उतर आते हैं और इसमें कमोबेश सभी शामिल हैं। यही कारण है कि सभा में उपस्थित तीनों महिलाओं को सभा छोड़कर पहले ही भागना पड़ता है। यह नाटक दिखाता है कि स्त्री और पुरुष के बीच यौनिकता से रहित सहज मानवीय सम्बन्ध अभी भी विकसित नहीं हो पाए हैं और उसकी संभावना नज़दीकी भविष्य में दिखलाई भी नहीं पड़ती है। कारण कि हमारे देश और समाज का पुरुष स्त्री को उनकी यौनिकता से बाहर एक व्यक्ति के तौर पर देखने का अभ्यस्त ही नहीं है। उसके पीछे का कारण यह है कि एक पुरुष अपने परिवार में बचपन से महिलाओं को एक ख़ास तरह की भूमिका में ही देखने का आदी हो जाता है। वह भूमिका है परिवार की स्त्रिओं द्वारा पुरुष वर्ग की सेवा की। ऐसे में उनका विकसित मन-मष्तिष्क भी स्त्रियों को उनकी इन भूमिकाओं के इतर देख और स्वीकार कर पाने को तैयार नहीं होता।

मोहन राकेश लिखित यह एकांकी अपने स्वरूप और वितान में भले छोटा हो लेकिन अपने कहन में यह कहीं से भी कमतर नहीं है। मोहन राकेश अपने इस एकांकी के ज़रिए समाज की लगभग सारी मूलभूत समस्याओं को उजागर करने का काम करते हैं। मोहन राकेश उन सवालों को भी छूने का साहस दिखाते हैं जिनसे लोग आम तौर पर कतराकर निकल जाना पसंद करते हैं। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि मोहन राकेश इन तमाम सवालों का निर्वाह इतने छोटे से एकांकी में कर पाते हैं। यह दर्शाता है कि एक नाटककार के तौर पर वह कितने सफल हैं।

संदर्भ

1. मोहन राकेश, अंडे के छिलके, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-2, पृष्ठ - 113
2. वही, पृष्ठ - 114
3. वही, पृष्ठ - 114
4. वही, पृष्ठ - 118
5. वही, पृष्ठ - 138
6. वही, पृष्ठ - 122

मृत्युंजय प्रभाकर
नाटककार, निर्देशक एवं समीक्षक
सहायक प्राध्यापक, नाटक एवं रंगमंच कला
संगीत भवन, विश्व भारती, शांति निकेतन
सम्पर्क: द्वारा नंदिनी, पश्चिम गुरुपल्ली
विपरीत आश्रम मठ, हाथी पुकुर के पास
शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल - 731235
मो. 8170097507
ईमेल: mrityunjay.prabhakar@gmail.com

राष्ट्रीयता और मानवता के ताने-बाने में गुंथी एकांकी : ' सिपाही की मां '

अनीता देवी

मोहन राकेश हिंदी साहित्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं । उनको नई कहानी आंदोलन के नायकों में से एक माना जाता है। हिंदी नाटकों के विकास की जब बात की जाती है तो भारतेंदु और प्रसाद के बाद मुख्य नाटककार के रूप में मोहन राकेश का ही नाम लिया जाता है । प्रसाद के समय में नाटकों और रंगमंच के बीच एक दूरी का अहसास होता है । उस समय रंगमंच पर खेले जा सकने वाले नाटकों का एक तरह से अभाव दिखाई देता है । मोहन राकेश के नाटकों ने एक सीमा तक उस अभाव को कम किया । वैसे देखा जाए तो उन्होंने नाटक ही नहीं कहानी, उपन्यास, यात्रा-वृतांत आदि अनेक विधाओं को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है । 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे', 'अंडे के छिलके', 'मलबे का मालिक', 'अंधेरे बंद कमरे' आदि उनकी अनेक प्रसिद्ध रचनाएं हैं। उनकी कृतियों की विषय-वस्तु अनुभवों और गहरी संवेदना के ताप से निकलकर पाठकों तक पहुंची हैं । इसलिए उनकी प्रत्येक कृति अपने-आप में एक नया प्रयोग साबित होती है। मोहन राकेश ने अपने समय के मानवीय संघर्ष को कमलबद्ध किया है । नई भाव-भूमि को तैयार करती उनकी रचनाएं पाठकों के मन-मस्तिष्क को प्रभावित किए बिना नहीं रहतीं। मोहन राकेश के बारे में कृष्ण कुमार लिखते हैं– "स्वातंत्र्योत्तर स्थितियों में हमारा जन-मानस, हमारी ज़िंदगी, कहाँ से कहाँ आ गई है इसका सही विटनेस मोहन राकेश का साहित्य है।"

'सिपाही की मां' मोहन राकेश द्वारा रचित एकांकी है । यह एकांकी 'अंडे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक' पुस्तक में संकलित है । इस पुस्तक में चार एकांकी हैं– 'अंडे के छिलके', 'प्यालियाँ टूटती हैं', 'बहुत बड़ा सवाल और सिपाही की मां'। जिस तरह मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' बहुत मार्मिक कहानी है उसी तरह 'सिपाही की मां' भी मोहन राकेश की दिल को छू लेने वाली एक मार्मिक रचना है। यह एकांकी दो दृश्यों में विभाजित है। एकांकी की कथा के केंद्र में देहात का एक निम्न मध्यवर्गीय गरीब परिवार है । इस परिवार का इकलौता पुत्र मानक है । मानक की माँ, जिसका नाम बिशनी है, घर में अपनी चौदह बरस की अविवाहित लड़की मुन्नी के साथ रहती है । बिशनी का बेटा मानक फ़ौज में सिपाही है जोकि द्वितीय विश्व युद्ध में बर्मा में हिन्दुस्तानी फ़ौज की ओर से जापानी फ़ौज से लड़ने के लिए गया हुआ है । घर की स्थिति ऐसी है कि अगर युद्ध में मानक को कुछ हो जाता है तो उसकी माँ एवं छोटी बहन मुन्नी का इस धरती पर जीने का कोई अन्य सहारा नहीं है । घर का सारा दारोमदार मानक पर निर्भर है । घर में वही एक कमाने वाला है । गरीबी के कारण मानक की माँ मुन्नी का विवाह भी नहीं कर पा रही है । बर्मा में युद्ध चल रहा है, मानक की माँ अपने पुत्र को लेकर चिंतित है । साथ ही वह इस इंतज़ार में भी है कि जब उसका पुत्र आएगा तब ही वह मुन्नी के हाथ पीले कर पाएगी, क्योंकि घर में इतने पैसे नहीं हैं कि वह मुन्नी के विवाह के बारे में सोच भी सके।

मां-बेटी हर रोज़ मानक की चिट्ठी के आने का बेसब्री से इंतज़ार कर रही हैं । आज से पहले मानक अपनी मां को चिट्ठी लिखकर अपनी राज़ी-ख़ुशी का सन्देश लगातार भेजता रहा है लेकिन अब दो महीने होने को हैं, किन्तु मानक की कोई चिट्ठी नहीं आई है। इसी वजह से जैसे ही डाकवाली गाड़ी आती है, वैसे ही मुन्नी भाग कर जाती है कि उसके भाई की चिट्ठी आई होगी लेकिन चिट्ठी है कि आने का नाम ही नहीं ले रही । बिशनी परेशान है कि जिस बेटे की पंद्रह दिन में चिट्ठी प्राप्त होती थी उस बेटे की इतने दिन से चिट्ठी क्यों नहीं आई है? कारण क्या हो सकता हैं? इस पर वह तरह-तरह की बातें सोचने लगती है कि "अब की न जाने कौन पहाड़ रास्ते में खड़ा हो गया है? कम से कम अपनी राज़ी-खुशी तो लिख देता।" चिट्ठी न आने पर बिशनी अपने भाग्य को कोसने लगती है, ऐसे कठिन समय में मां-बेटी दोनों एक दूसरे का सहारा बनी हुई हैं । मुन्नी भी मां को यह कहकर दिलासा दिलाती है कि उसके भाई की चिट्ठी ज़रूर आएगी।

बिशनी और मुन्नी दोनों को नहीं पता कि बर्मा यहां से कितनी दूर है और वहां कैसे जाया जा सकता है । वे मानक द्वारा बताई गई बातों को याद करके किसी न किसी प्रकार दिन काट रही

हैं। पड़ोस में रहने वाला चौधरी और उसकी पड़ोसन कुंती बर्मा की लड़ाई को लेकर ऐसी भयानक बातें बताते हैं कि बिशनी का मन भय से कांपने लगता है। वह अपने मन को तसल्ली देने के लिए उनकी सभी बातों को झूठ मानना चाहती है। पड़ोस में रहने वाली कुंती बिशनी के पास आकर पड़ोस की अन्य लड़कियों के ब्याहे जाने और मुन्नी के न ब्याहे जाने और मानक के न आने पर चिंता व्यक्त करती है, "बेचारा जल्दी घर वापस आ जाए और आकर बहन के हाथ पीले करे, सब सहेलियां तो इसकी एक-एक करके चली गईं, धन्नो भी वैशाख में चली जाएगी... तूने अभी इसके लिए कोई वर-घर नहीं देखा?" मोहन राकेश भारतीय समाज के बीचोंबीच जाकर बहुत गहरे उतर कर समाज की दुखती नस को अच्छे से पकड़ना जानते थे। इसलिए उन्होंने एकांकी में मुन्नी के विवाह का न होना, और क्यों नहीं होना– इस पर भी प्रकाश डाला है, क्योंकि उस समय एक गरीब परिवार को बेटी के विवाह और दहेज आदि पर होने वाले खर्च को वहन करना आसान नहीं था। एक संवेदनशील लेखक भला इस समस्या की अनदेखी कैसे कर सकता था ?

बिशनी और कुंती के बीच चल रही बातचीत के दौरान दीनू कुम्हार बिशनी को आकर बताता है कि शहर में दो लड़कियां आई हैं और वे बिशनी के घर की ओर ही आ रही हैं। लड़कियां आकर बिशनी को बताती हैं कि वे बर्मा के शहर रंगून से अपनी जान बचा कर आई हैं। बातों ही बातों में इन लड़कियों ने बिशनी को बर्मा में चल रहे युद्ध में हिन्दुस्तानी और जापानी सिपाहियों के बीच चल रही लड़ाई के सम्बन्ध में दिल दहला देने वाली घटनाओं का आँखों देखा हाल बताया। यह सब सुनकर बिशनी का दिल बैठ जाता है। उसकी अपने बेटे मानक को लेकर चिंता और अधिक बढ़ जाती है। लेकिन उसकी बेटी मुन्नी उसको यह कह कर दिलासा दिलाती है कि भैया की चिट्ठी ज़रूर आएगी। मां भी मुन्नी की बात पर विश्वास कर इस आशा के साथ सो जाती है कि शायद इसलिए चिट्ठी नहीं आई है कि उसका बेटा स्वयं ही आता होगा।

एकांकी के दूसरे दृश्य में बिशनी गहरी नींद में है और वह सपने में देखती है कि उसका बेटा मानक घायल अवस्था में उसके पास आता है, उसको गोलियां लगी हैं। मानक मां की गोद में लेटा है, वह मरा नहीं, ज़िंदा है। वह बिशानी को बताता है कि दुश्मन सिपाही उसके पीछे पड़ा है तथा उसको मारना चाहता है। बिशनी बेटे को विश्वास दिलाती है कि जब तक वह ज़िंदा है तब तक तुझे कैसे कुछ हो सकता है ! तभी अंधेरे में से दुश्मन सिपाही आकर मानक को बंदूक से मारने की कोशिश करता है, लेकिन बिशनी बंदूक का कुंदा अपने हाथ से पकड़ लेती है और मानक को अपनी छाती से लगा लेती है। सिपाही बंदूक का कुंदा उसके हाथ से छुड़ाकर उससे कहता है कि तुम्हारा बेटा इंसान नहीं जानवर है, इसने अनेक सिपाहियों की जान ली है इसलिए मैं इसे ज़िंदा नहीं छोडूंगा। बिशनी को इस बात पर विश्वास नहीं होता। वह दुश्मन सिपाही को अपनी स्थिति से अवगत कराती है। साथ ही उसे अपनी माँ की सौगंध दिलाकर मानक को बचाने की कोशिश करती है, लेकिन सिपाही बिशनी को बताता है कि उसकी मां पागल हो गई है तथा उसकी पत्नी के पेट में छह महीने का बच्चा है। वह कहता है कि जिस दिन वह मेरे मरने की ख़बर सुनेगी उसी दिन वह गले में फांसी लगाकर अपनी जान दे देगी और उसके साथ वह बच्चा भी मर जाएगा। तभी मानक उठकर दुश्मन सिपाही को मारने लगता है, लेकिन बिशनी उस सिपाही को बचाने के लिए मानक की बंदूक के आगे खड़ी हो जाती है और कहती है कि मानक तुम इसको नहीं मार सकते क्योंकि इसकी स्थितियां भी हमारे जैसी ही हैं। इस तरह वह अपने चरित्र से यह साबित करती है कि प्रत्येक सिपाही की मां वैसी ही है जैसी कि वह स्वयं है। एक तरफ वह दुश्मन सिपाही से मानक की रक्षा करने के लिए स्वयं गोली खाने के लिए तैयार है तो दूसरी तरफ वह मानक को भी दुश्मन सिपाही को मारने से रोकती है। यही माँ की निस्वार्थ ममता का भाव इस कहानी के मूल में है।

एकांकी के प्रमुख पात्रों में बिशनी, उसकी युवा पुत्री मुन्नी, उसका इकलौता पुत्र मानक, पड़ोसन कुंती तथा अन्य पात्रों में कुम्हार दीनू, सिपाही, लड़की 1 तथा लड़की 2, और चौधरी शामिल हैं। एकांकी में बिशनी प्रमुख महिला पात्र है। सभी पात्र उसी के इर्द-गिर्द घूमते दिख रहे हैं। बिशनी नाम की महिला का चरित्र एक सिपाही की मां के रूप में पाठक के सामने आया है। वह मानक नामक हिन्दुस्तानी सिपाही की मां है जैसाकि एकांकी का शीर्षक है 'सिपाही की मां'। कथावस्तु से स्पष्ट होता है कि बिशनी जो है, वह केवल अपने फ़ौजी बेटे मानक की मां ही नहीं बल्कि फ़ौज में अपने देश के लिए लड़ने वाले हर सिपाही की मां है और उसने अपने चरित्र से इस बात को साबित भी कर दिया है। अत: उसमें किसी भी सिपाही की माँ को ढूँढ़ा जा सकता है। बिशनी के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण पात्र बिशनी की बेटी मुन्नी है, जो सिपाही मानक की बहन है। वह बहुत भोली, समझदार एवं निश्छल स्वभाव की है। उसकी उम्र शादी के लायक हो गई है। वह अपने घर की स्थिति को अच्छी तरह समझती है इसलिए उसके सारे सपने उसके भाई सिपाही मानक के साथ जुड़े हुए हैं। वह अपनी सहेलियों को कड़े पहने देखकर अपनी माँ से कहती है कि माँ भैया मेरे लिए जो कड़े लायेंगे वे तारो और बंतो के कड़ों से भी अच्छे होंगे ना? मुन्नी अपने भाई से बहुत प्रेम करती है। अपने

भाई के लड़ाई में जाने के बाद उस की चिट्ठी का इंतज़ार बड़ी बेसब्री से करती है।

मोहन राकेश अपनी अन्य रचनाओं की भांति यहां भी कथा संरचना की दृष्टि से भी एक सफल लेखक साबित होते हैं। हां, दूसरे दृश्य के आरंभ में जब मानक घायल अवस्था में बिशनी के पास आता है तब पाठक को थोड़ी देर लगती है यह समझने में कि यह सब सपने में घटित हो रहा है, वास्तव में नहीं। लेकिन मोहन राकेश यहां भी अपनी ही जीत दर्ज करते हैं क्योंकि एकांकी के माध्यम से जो महत्त्वपूर्ण संदेश वे प्रेषित करना चाहते थे उसके लिए पाठक को सपने की जगह यथार्थ की अनुभूति कराना ज़रूरी था।

दृश्य सज्जा, रंग उपकरण नाटक के देशकाल और वातावरण का निर्माण करने में बहुत योगदान देते हैं, इसलिए लेखक एकांकी में रंग उपकरणों और दृश्य सज्जा के माध्यम से परिवार की गरीबी का पता आरंभ में ही दे देता है– "देहात के घर का आंगन, अंधेरे और सीलदार आंगन के बीचोबीच एक खस्ताहाल चारपाई पड़ी है। एक और वैसी ही चारपाई दीवार के साथ खड़ी है। दायें कोने में दो-तीन मिट्टी की हंडिया पड़ी हैं, सामने एक लकड़ी का टूटा हुआ दरवाज़ा है, जो घर के अंदर खुलता है। दरवाज़े पर एक अंगोछा और चारपाई पर एक फटी हुई धोती सूख रही है। बायीं ओर बाहर जाने का रास्ता है, जिसमें किवाड़ नहीं हैं।"

नाटक में ध्वनि प्रयोग और वेशभूषा घटनाओं को वास्तविक बनाने में सहायता करते हैं, इस बात का पूरा ध्यान लेखक ने रखा है– "कुछ क्षण चरखे की आवाज़, कबूतरों की गुटरगूं सुनाई देती है। बीच-बीच में बिशनी थोड़ा खांस लेती है, फिर घोड़ागाड़ी के दूर से आने और रुकने का शब्द सुनाई देता है।" इसी तरह "बाल सब सफेद हो चुके हैं..., उसकी हरे रंग की सलवार कमीज़ बहुत मैली हो रही है।" यह सब उम्र के साथ- साथ घर के हालात को भी दर्शाता है।

मोहन राकेश द्वारा लिखित एकांकी का शीर्षक 'सिपाही की मां' सार्थक और उचित है। इस कथा-वस्तु के लिए इससे अच्छा शीर्षक नहीं हो सकता था। मोहन राकेश के सामने भाषा लाचार-सी नज़र आती है। एकांकी में आंचलिक भाषा प्रयोग पात्रों की ग्रामीण पृष्ठभूमि को स्वाभाविकता प्रदान करता है। जैसे बिशनी कहती है– "ऐसी काली ज़बान न बोल। मुँह अच्छा न हो तो बात तो आदमी अच्छी करे। मानक कहता था कि जहाज़ इत्ता बड़ा होता है...।" उनकी भाषा में देशज, तद्भव, तत्सम, अरबी-फ़ारसी हर प्रकार के शब्द शामिल होते हैं। एकांकी की भाषा कथानक को निश्चित प्रवाह के साथ आगे बढ़ाने में सहायक है। संवाद छोटे, अत्यन्त सरल तथा सहज हैं जिन्हें पाठक सहजता से समझ लेता है। भाषा चित्रात्मक है, जिससे पढ़ते समय समस्त दृश्य आँखों के समक्ष तैरने लग जाते हैं।

दृश्य और श्रव्य बिंबों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, "साथ टिड्डियों की चिक- चिक का शब्द सुनाई देने लगता है जो क्रमश: काफ़ी तेज़ हो जाता है। बिशनी करवट बदलती है। प्रकाश हलके से गहरा नीला हो जाता है और दूर एक कुत्ते के रोने की आवाज़ सुनाई देती है। फिर दूर गोली चलने का शब्द सुनाई देता है और कई व्यक्तियों के कराहने की आवाज़ें आती हैं। बिशनी चौंक कर उठ बैठती है।" नाटक की प्रस्तुति में मंच पर प्रकाश-व्यवस्था का भी अपना महत्व होता है। मोहन राकेश ने उसका भी पूरा ध्यान रखा है, "उसके ढिबरी बुझाते ही प्रकाश का रंग पीले से हल्का नीला हो जाता है।" इसलिए कहा जा सकता है कि रंगमंचीयता की दृष्टि से मोहन राकेश बहुत सतर्क लेखक रहे हैं। उनके किसी भी नाटक या एकांकी के मंचन में कोई दिक्कत नहीं आती। उनके द्वारा एकांकी में स्थान- स्थान पर दिए गए रंग-निर्देश अभिनय में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। उनके द्वारा एकांकी में अनेक स्थानों पर अभिनय की स्थितियों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार वे एक ऐसे नाटककार सिद्ध होते हैं जिन्होंने अपने नाटकों को लिखते समय न केवल रंगमंच को ध्यान में रख रंग-संकेतों का यथास्थान उल्लेख किया है बल्कि हिंदी को बहुत ही नए और आधुनिक भावबोध वाले सशक्त नाटक दिए हैं। गिरीश रस्तोगी के अनुसार, "अगर 3 दिसंबर, 1972 को उनका देहांत न हो गया होता तो संभवत: हिंदी को उन्होंने और अधिक सशक्त, सर्जनात्मक अनुभव से युक्त नाटक दिए होते।" अंत में कहा जा सकता है कि यह एकांकी एक कोमल मानवीय भाव के साथ राष्ट्रीय और मानवता के ताने- बाने में गुंथी, एक सुंदर और मार्मिक रचना है।

संदर्भ

- राकेश मोहन, 'अंडे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक', राधाकृष्ण प्रकाशन।
- हिंदी समय डॉट कॉम, हिंदी का रचना संसार।
- कुमार, कृष्ण, हिंदी कथा साहित्य– परख और पहचान।
- रस्तोगी गिरीश, मोहन राकेश और उनके नाटक।

अनीता देवी

सहायक प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग

मैत्रेयी महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पर्क: 1452, नीलकंठ अपार्टमेंट, सैक्टर- 13, रोहिणी

नई दिल्ली - 110085, मो. 9899840037

ईमेल : anita.bsd@Gmail.com

रागात्मक संबंधों की ऊर्जा को बचाए रखने की कहानियाँ

हरियश राय

जिस दौर में मोहन राकेश कहानियां लिख रहे थे वह दौर आज के दौर से काफी भिन्न था। आज जब हम मोहन राकेश की कहानियों पर विचार करते हैं तो हमें उस दौर में जाना होगा, उस दौर के सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक परिवेश को समझना होगा जिनसे मोहन राकेश की रचना भूमि का निर्माण हुआ।

मोहन राकेश का दौर वह दौर था जब देश विभाजन की त्रासदी से गुज़रकर अपनी एक अलग राह बना रहा था। लोग आज़ाद भारत की खुली हवा को महसूस कर रहे थे। मध्य वर्ग का उदय उनके अपने सपनों के साथ हो रहा था। स्त्रियां अपने घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर अपने लिए उन्मुक्त आकाश तलाश रही थीं। जवाहर लाल नेहरू देश में एक नई सोच विकसित करने की कोशिश कर रहे थे। सामाजिक-आर्थिक संबंधों में बदलाव आ रहे थे। इन बदलावों के कारण पारिवारिक संबंध भी बदल रहे थे। संविधान निर्माण के बाद लोकतांत्रिक मूल्यों का प्रसार हुआ था।

साहित्य के क्षेत्र में 1954 में 'कहानी' पत्रिका का प्रकाशन फिर से हुआ और यशपाल, जैनेन्द्र, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्र नाथ अश्क जैसे कई कथाकारों के बाद कहानी की नई पीढ़ी सामने आई जिसमें मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर प्रमुख थे। दूसरी ओर प्रगतिशील आंदोलन अपने उभार पर था। प्रगतिशील कथाकारों ने हिन्दी कहानी के क्षेत्र में ज़ोरदार दस्तक दी थी। इनमें शेखर जोशी, हरिशंकर परसाई, मुक्तिबोध, मार्कण्डेय, दूधनाथ सिंह, भैरव प्रसाद गुप्त, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती आदि प्रमुख थे। प्रगतिशील धारा से जुड़े कथाकार अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ जीवन-जगत को देख रहे थे।

नयी कहानी सामाजिक संबंधों की नींव पर खड़ी थी और नयी कहानी के दौर में 1950 के आसपास नये मिज़ाज की कहानियां सामने आने लगीं। इस नए मिज़ाज में संयुक्त परिवारों का विघटन, मध्यवर्ग की विसंगतियाँ, महत्वाकांक्षाएं और सीमाएं, पंडित नेहरू की नीतियों के कारण समाज में पूंजी के प्रवेश से उत्पन्न मानवीय संबंध व उनका विघटन तथा मूल्यों के संक्रमण के संदर्भ देखने को मिलते है। नई कहानी में पारिवारिक संबंधों विशेष रुप से पति-पत्नी के संबंधों के प्रति संदेह बहुतायत से देखने को मिलते हैं। नई कहानी व्यवस्था संबंधी सवालों से भी रू-ब-रू होती दिखाई देती है। ये कहानियां संबंधों के बिखराव के साथ व्यक्ति के समाज में अकेले होते चले जाने की टीस लिये हुए हैं। इन कहानियों में व्यक्त अकेलेपन के सूत्र हमें उस समय के परिवेश में ही दिखाई देते हैं। नए दौर की ये कहानियां उस समय के परिवेश से उत्पन्न यंत्रणाओं से वाकिफ़ कराती हैं और यकीनन वह परिवेश निम्न मध्यवर्ग का है जो आज़ादी के बाद की नयी स्थितियों से प्रभावित हो रहा था।

नयी कहानी के कहानीकारों के सामने एक मोह भंग की स्थिति थी। इन कहानीकारों ने उसी यथार्थ को अपनी चेतना का हिस्सा नहीं बनाया जो सतह के नीचे था। कहानी में आ रहे इस नयेपन को मोहन राकेश ने अपने कहानी संग्रह 'नये बादल' की भूमिका में दर्ज किया। इस भूमिका में मोहन राकेश ने अपनी रचना- प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहानी की समीक्षा के प्रतिमानों की आधार भूमि सामने रखी। मोहन राकेश की 'नये बादल' संग्रह की कहानियाँ अधिक सहज और चमत्कारिता लिए हुई थीं।

आज़ादी की जिन सामाजिक घटनाओं से मोहन राकेश की मनोरचना का निर्माण हुआ, उसमें देश विभाजन और देश विभाजन के बाद उपजे संदर्भों की महत्वपूर्ण भूमिका है। खुशवंत सिंह से लेकर कृष्णा सोबती, भीष्म साहनी, मंटो, कृश्न चंदर, राजेन्द्र सिंह बेदी, यशपाल, अमृता प्रीतम तक हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, सिंधी के अनेक कथाकारों ने अपने लेखन में विभाजन और विभाजन से उपजे त्रासद संदर्भों को सामने रखा है। मोहन राकेश ने अपनी कहानी 'मलबे का मालिक' में बाद के दंगों को उस रूप में नहीं रखा, जिस रूप में अन्य कथाकारों ने रखा। उन्होंने बेहद सूक्ष्म रूप में रचनात्मक स्तर पर विभाजन की विभीषिका को दर्ज किया है। 'मलबे का मालिक' का गनी मियाँ उन सारे मूल्यों, विचारों,

आस्थाओं को मलबे में तब्दील होता देखता है जो आज़ादी के आंदोलन के दौरान सामने रखे गये थे।

कहानी का गनी मियाँ विभाजन के साढ़े सात साल बाद हॉकी का मैच देखने लाहौर से अपने शहर अमृतसर जाता है। मैच देखना तो केवल बहाना था, असली बात तो उन घरों और बाज़ारों को फिर से देखना था जो उसके लिए पराए हो गये थे। गनी मियां अपने उस मकान को भी देखने जाता है जिसे उसने तकसीम से छ: महीने पहले बनवाया था। अमृतसर में उसका बेटा चिरागदीन रहता था लेकिन दंगों में उसकी हत्या कर दी गई। चिरागदीन को यकीन था कि यहां रहने वाले सभी हिन्दू उसकी सुरक्षा करेंगे। उसे अपने दोस्त रक्खे पहलवान पर पूरा यकीन था कि वह उसे कुछ नहीं होने देगा। लेकिन यह रक्खा पहलवान ही उसकी जान ले लेता है। इस यकीन का ध्वस्तीकरण बहुत बड़े पैमाने पर होता है। मोहन रोकश ने बेहद रचनात्मकता के साथ इस प्रसंग को बुना है। गनी मियां रक्खा पहलवान से पूछता है कि यह हादसा कैसे हो गया –

"तू बता रक्खे, यह सब हुआ किस तरह ?'' गनी आँसू रोकता हुआ आग्रह के साथ बोला, "तुम लोग उसके पास थे, सबमें भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी, अगर वो चाहता तो तुममे से किसी के घर में नहीं छिप सकता था– उसे इतनी भी समझ नहीं आई...'', लेकिन रक्खा क्या बताता ! रक्खा तो खुद चिराग को मार कर उसका मकान हड़पना चाहता था। यहाँ तक कि जब रक्खे को यह पता चला कि चिराग के घर को लूटकर किसी ने उसमें आग लगा दी थी तब से उसने कसम खाई थी कि वह आग लगाने वाले को ज़िंदा ज़मीन में गाड़ देगा लेकिन ऐसा हो न सका। तब से रक्खा पहलवान गनी के मकान के मलबे को ही अपना समझने लगा। वह मलबे पर किसी को न तो गाय-भैंस बांधने देता और न ही एक भी ईंट मलबे से निकालने देता। रक्खा पहलवान ख़ुद ही मलबे का मालिक बन गया था।

गनी मियां से यह सुनते ही रक्खा सकपका जाता है। उसके होंठ गाढ़े लार से चिपक जाते हैं, मूँछों के नीचे पसीना आ जाता है, माथे पर किसी चीज़ का दबाव महसूस होता है, रीढ़ की हड्डी किसी का सहारा ढूंढने लगती है। मोहन राकेश ने बेहद ख़ूबसूरती से रक्खे की इस मनोदशा का वर्णन किया है। गनी मियां अपने इस तबाह हुए घर को भी छोड़कर वापस नहीं जाना चाहता। वह रक्खे से कहता है, "तू सच पूछे तो मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने का मन नहीं करता।"

मोहन राकेश ने साम्प्रदायिक तनाव, संबंधों के प्रति विश्वासघात, ज़मीनों पर कब्ज़ा करने की नीयत के साथ- साथ अपनी ज़मीन के प्रति अदम्य राग को इस कहानी में सामने रखा है। कहानी में मोहन राकेश मानव मूल्यों को बचाए रखना चाहते हैं। गनी मियां रक्खे से कहता है, "जो होना था हो गया रक्खिया, अब उसे कोई लौटा थोड़े ही सकता है। ख़ुदा नेक की नेकी बनाए रखे, बद की बदी माफ़ करे। मैंने आकर तुम लोगों को देख लिया, सो समझूंगा कि चिराग को देख लिया, अल्लाह तुम्हें सेहतमंद रखे।"

मोहन राकेश ने इस कहानी में उन जीवन मूल्यों, आदर्शों को सामने रखा है जो साम्प्रदायिक उन्माद की भेंट चढ़ गए। मलबे का ढेर केवल घर के मलबे का ढेर ही नहीं है, हमारी सदियों से चली आ रहीं सहिष्णुता, अपनापन, मेलजोल, भाईचारा, साम्प्रदायिक सद्भाव और गंगा-जमुनी संस्कृति के मलबे का ढेर है।

मोहन राकेश उन कथाकारों में से है जिन्होंने विभाजन के दर्द को बेहद संवेदनात्मक रूप में हमारे सामने रखा। विभाजन एक ऐसी त्रासदी थी जिसका दंश हज़ारों- हज़ार तरीके से महसूस किया गया और यह दंश इतना गहरा था कि आज के कथा लेखन में भी इसकी गूंज सुनाई देती है। सत्ता की इस साज़िश को आज़ादी के उत्सव में उस समय नहीं समझा गया जिसके अपने स्वार्थ के चलते एक बड़ी आबादी को अपनी ज़मीन, अपना घर, अपना परिवेश छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा है। विभाजन के दौरान जितनी बड़ी आबादी को एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ा, उसकी मिसाल किसी दूसरे देश में नहीं मिलती। आबादी की अदला-बदली के दौरान धर्म-सत्ता और राज-सत्ता ने मिलकर तबाही के जो मंज़र पैदा किये, वे दोनो देशों के शरणार्थी कैंपों में दिखाई दिए थे।

मोहन राकेश की कहानी 'क्लेम' विभाजन के बाद लोगों द्वारा अपने-अपने क्लेम लेने की कहानी है। कहानी में ताँगे वाला साधु सिंह है जो भीषण गर्मी में अपने परिवार का और अपने घोड़े 'अफसरा' का पेट भरने के लिए ताँगा चलाता है। उसे कोई सवारी नहीं मिलती क्योंकि एक बस चल पड़ी है और सभी सवारियाँ बस में सफ़र करना पसंद करती हैं। बस कचहरी से माडल टाउन का सफ़र पूरा करने में पाँच मिनट का समय ही लेती है। बड़ी मुश्किल से तांगे वाले साधु सिंह को कुछ सवारियाँ मिलती हैं जिनमें एक परेशान स्त्री है जिसने अट्ठारह हज़ार का क्लेम भरा था लेकिन केवल छह हज़ार ही मिले। उसी ताँगे में एक सरदार जी हैं जिन्हें क्लेम का एक भी पैसा नहीं मिला। वह अपनी दास्तान बताता है " हमारा कसूर यही है कि मियां-बीवी दोनों सलामत

हैं। मैं अगर मर- खप गया होता, तो मेरे बच्चों को भी अब तक दो रोटियां नसीब हो जातीं, आंखें मेरी अंधी हो रही हैं, जोड़ मेरे दर्द करते हैं– मैं जीता हुआ भी क्या, मुर्दों से बदतर हूं ? मगर सरकार के घर ऐसा अंधेर है कि लोग इंसान की ज़रूरत को नहीं देखते, बस जीते और मरे हुए का हिसाब करते हैं। मुझे आज ये एक हज़ार ही दे दें तो मैं कोई छोटी-मोटी दुकान डालकर बैठ जाऊं। मेरे बच्चों के पास तो एक फटी कमीज़ भी नहीं है। क्लेम के लिए भटकते लोगों के दर्द को गहराई से इस कहानी में दर्ज किया गया है।

मोहन राकेश की कहानी का सबसे आकर्षक और महत्त्वपूर्ण पक्ष ताँगेवाले साधु सिंह द्वारा अपने गांव में छूट गये आम के उस पेड़ का क्लेम दाख़िल करना है जिसके पकने का उसने बेसब्री से इंतज़ार किया था और जिसकी अम्बिया खा-खाकर वह अपने दाँत खट्टे करता था। इस कहानी के माध्यम से हम क्लेम के लिए भटकते लोगों के दर्द को बेहतर तरीके से समझ सकते हैं।

मोहन राकेश की 'अपरिचित' कहानी एक स्त्री और एक पुरुष की कहानी है। एक स्त्री और एक पुरुष ट्रेन में मिलते हैं और उन दोनों में बातचीत शुरू होती है। इस बातचीत के दौरान पता चलता है कि स्त्री का पति पढ़ाई करने विदेश गया है और वह उसे एअरपोर्ट छोड़कर आ रही है। वह स्त्री बताती है कि वह छह-आठ महीने बाद अपनी तनख़्वाह से कुछ पैसे बचाकर और थोड़ा-बहुत उधार लेकर अपने पति के पास जाएगी। इस बातचीत के दौरान स्त्री उस पुरुष को अपने वैवाहिक जीवन के बारे में बताती है कि उसके विचार उसके पति से बिल्कुल नहीं मिलते। वह हर चंद कोशिश करती है कि वह पति के सामने ख़ुश रह सके लेकिन उसका पति को हर बार गुस्सा ही आता है। वह चुप रहना चाहती है पर उसका पति उसे बात करने पर मजबूर करता है। इसी तरह की बातें पुरुष भी स्त्री को बताता है कि वह भी अपनी पत्नी से ख़ुश नहीं है और उसके भी विचार उसकी पत्नी से नहीं मिलते। उसकी पत्नी एक लेक्चरर है इसलिए वह घर में भी लेक्चर देती रहती है। पत्नी सोशल स्टेटस बनाने के पक्ष में रहती है जो कि उसे पसंद नहीं है। कहानी में वह स्त्री पुरुष से पीने का पानी माँगती है। वह पुरुष सर्दी की रात में जब गाड़ी एक सुनसान स्टेशन पर रुकती है, प्लेटफार्म पर उतरकर एक नल से गिलास में पानी भरता है। जैसे ही गिलास में पानी भरता है, गाड़ी चलने लगती है। वह पुरुष दौड़ते हुए गाड़ी पकड़ता है। रात में कंबल ओढ़कर सो जाता है। जब सुबह होती है तो पुरुष देखता है कि वह स्त्री रात में ही किसी स्टेशन पर उतर गई है।

कहानी में मोहन राकेश एक ऐसा परिवेश रचते हैं जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं हैं और दोनों अपने-अपने दायरों में बंद रहते हैं। झूठे आडम्बर के कारण वैवाहिक जीवन किस तरह कष्टमय हो सकता है, कहानी इस बात का संकेत करती हुई पति- पत्नी में परस्पर सदभाव और प्रेम को रेखाकिंत करती है।

जिस दौर में मोहन राकेश कहानियां लिख रहे थे उस दौर में रोज़ी-रोटी की तलाश में बड़े -बड़े शहरों में पलायन बहुत तेज़ी से हो रहा था और इस पलायन की वजह से पारिवारिक संबंधों की धुरी भी अपनी जगह से खिसक रही थी। एक तरफ नौकरी की चिंताएँ थीं तो दूसरी तरफ रहने और खाने की चिंताएँ थीं। उस दौर में पति-पत्नी के संबंध ही नहीं मां और बेटे के संबंध भी हाशिए पर चले गये थे। संबंधों का इस तरह हाशिए पर चले जाना बदलती हुई सामाजिक संरचना का अनिवार्य परिणाम था। इसीलिए मोहन राकेश 'आर्द्रा' कहानी में एक ऐसी मां को चित्रित करते हैं जो शहर में रह रहे अपने बेटे के खाने को लेकर चिंतित है। कहानी की मां बचन एक ऐसी मां है जो कुछ समय तक शहर में अपने बेटे बिन्नी के पास रहती है, उसकी देखभाल करती है, उसके लिए रोटियां बनाती है और फिर वापस अपने दूसरे बेटे कुसुम के पास दूसरे शहर चली जाती है। वहां जाकर उसे महसूस होता है कि यहां मेरी ज़रूरत नहीं है। यहां तो काम करने के लिए नौकर है। वह वापस बिन्नी के पास जाने का मन बनाती है।

कहानी में मोहन राकेश ने एक मां के अंतर्द्वंद्व को बख़ूबी रचा है। इस कहानी को मां-बेटे के गहन संबंधों के नज़रिए से देखना चाहिए।

'रोज़गार' कहानी बेरोज़गारी के त्रास को सामने रखती है। कहानी में एक भाई है जो बहन की कमाई पर ज़िंदा है और जिसकी होटल की मालकिन मिसेज़ एडवर्ड से इस बात पर नोंक-झोक होती है कि वह उसे मनपसंद खाना नहीं देती। कहानी में मोहन राकेश ने भ्रममूलक संदर्भों की रचना की है जिनमें यह तो पता चलता है कि भाई अपनी बहन की कमाई पर निर्भर है लेकिन बहन किस तरह कमाई करती है, मोहन राकेश इसका खुलासा नहीं करते। कहानी में मिसेज़ एडवर्ड और बहन के कुछ संवाद ही सामने आते हैं जिससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि बहन किस तरह से कमाई करती होगी। जैसे–

''लड़की ने रूमाल से माथे का पसीना पोंछ लिया –

मेरा आपरेशन हुआ था।

आपरेशन ? किस चीज़ का आपरेशन ?

लड़की की आँखें ऊपर उठीं और झुक गईं।

मिसेज़ एडवर्ड की आंखें उसके चेहरे को टटोलती रहीं।

तुम्हारा मतलब है तुमने.. ?

लड़की की आंखें फिर उठीं और झुक गईं ।''

मोहन राकेश ने कहानी को इस मुकाम पर लाकर छोड़ दिया है। पाठक खुद कयास लगाता रहे कि लड़की ने किस चीज़ का आपरेशन कराया है । दरअसल इस तरह संशय की स्थिति में कहानी को लाकर छोड़ देना और सांकेतिकता से कहानी के अर्थ तलाश करना उस दौर के कहानीकारों में आम बात थी। कहानी में भ्रममूलक स्थितियां कहानी को पाठक की संवेदना से अछूता रखती हैं।

मोहन राकेश अपनी कहानियों में ऐसी स्त्रियों के चरित्र खड़े करते हैं जो पति द्वारा पीड़ित होने के बावजूद भी पति का साथ नहीं छोड़ना चाहतीं । ऐसी स्त्रियों के सहारे मोहन राकेश हमारे पुरुष प्रधान समाज की यंत्रणाओं को तो सामने लाते हैं लेकिन पुरुष सत्ता के प्रति प्रतिरोध की भावना को जागृत नहीं कर पाते। ये स्त्रियां हर हालत में पति के साथ रहकर उसकी प्रताड़ना सहती हुईं अपना जीवन गुज़ारती हैं । 'सुहागिनें' कहानी दो स्त्रियों की कहानी है। एक है काशी और दूसरी है मनोरमा। मनोरमा किसी कॉलेज में पढ़ाती है और काशी उसकी नौकरानी है। काशी का पति कहीं बाहर रहता है और सेबों के बगीचों का ठेका देने अपने शहर आता है। शहर आकर उसे एहसास होता है कि उसकी पत्नी काशी ने कुछ पैसे छिपाकर रखे है। वह ट्रंक खोलकर उससे सारे पैसे तो ले ही लेता है, उसकी पिटाई भी करता है। पति से पिटने के बाद भी काशी चाहती है कि उसका पति उसके साथ रहे। दूसरी तरफ मनोरमा है, जिसके पति बाहर गये हैं और वह अकेली रहती है। उसे अकेले रहना पसंद नहीं है सो अपने पति का इंतज़ार करती है। कहने को दोनों सुहागिनें हैं लेकिन कोई भी अपने परिवार में पुरुष प्रधान व्यवस्था के कारण सुख से नहीं रह पाती।

कहानी में मोहन राकेश ने दुःख के दो स्तर बुने हैं। एक स्तर काशी का है और दूसरा स्तर मनोरमा का है। अलग-अलग स्तरों पर होते हुए भी दुःख का एक ही स्तर है जिससे दोनों गुज़रती हैं।

मोहन राकेश ने कहानी में स्त्री के कोमल मन की पर्तों को भी सामने रखा है। मनोरमा जब यह देखती है कि उसकी नौकरानी काशी ने उसकी लिपस्टिक को अपने होठों पर लगा लिया है तो पहले तो वह क्षुब्ध होती है लेकिन जब उसे यह पता चलता है कि आज उसका पति आने वाला है तो वह अपना गुस्सा छोड़ देती है। इसी तरह जब वह काशी को अपनी रसोई में घी चाटते देख लेती है तो उसे चोरी से घी पीने के आरोप में नौकरी से निकाल देती है। इस पर काशी उससे यह कहती है कि ''एक अभागा भूखे पेट से जन्मा था तो वह सूखे से पड़ा है और दूसरा भी उसी तरह आएगा तो उसे जाने क्या रोग लगेगा।'' इस बिंदु पर आकर कहानी में भावुकता का पुट दिया गया है। मनोरमा काशी को डॉक्टर के पास जाने के लिए पैसे देती है। यह भावुकता कहानी को एक अलग स्तर पर ले जाती है। कहानी केवल सामाजिकता में ही नहीं देखी जा सकती, बल्कि यह भी देखा जाता है कि कहानी हमारे भीतर छिपे मनोभावों को किस तरह से सामने रखती है। मोहन राकेश ने बेहद सूक्ष्मता से दोनों स्त्रियों के मन की तहों को रखा है और पुरुष प्रधान समाज में नारी की अस्मिता से जोड़कर देखा है।

स्त्रियों के जटिल मनोभावों का एक स्तर 'सुहागिनें' कहानी में है तो पुरुष के जटिल मनोभावों का दूसरा स्तर 'गुनाह बेलज़्ज़त' कहानी में देखने को मिलता है। कहानी का सरदार सुंदर सिंह स्त्री के देह सुख के लिए सुंदरी नाम की एक स्त्री को दो घंटे के लिए अपने घर ले आता है। उसे घर लाने से पहले वह अपनी पत्नी भागवंती को उसके पिता के घर भेज देता है। वह सुंदरी को केवल देखता ही रहता है तथा उसका समय पूरा हो जाता है। यह घटना कहानी के परिदृश्य में है। मोहन राकेश ने इस घटना को आधार बनाकर कहानी का ताना- बाना बुना है।

कुछ दिनों बाद ख़बर आती है कि सुंदरी को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया है और सुंदरी ने उन सब आदमियों के नाम पुलिस को बता दिए हैं जिनके घरों में वह गई थी। सरदार सुंदर सिंह को लगता है कि अब पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेगी। वह अपनी गिरफ़्तारी का सपना भी देखता है लेकिन पुलिस उसे गिरफ्तार करने नहीं आती। वह सोचता है कि वह इस घटना के बारे में अपनी पत्नी को बता दे तो पत्नी उसे पुलिस से बचा लेगी। लेकिन जब वह सुंदरी के घर आने की घटना पत्नी को बताता है तो पत्नी पर कोई असर नहीं होता। वह उसे कहती है, ''रहने दो सरदार जी, मन के लड्डू मत फोड़ो, उसे आपके ही पास आना था ! जाओ, जाकर रोटी खा लो और नहीं खानी है तो बत्ती बुझा कर सो रहो। सारी उम्र बीत गई आपको सपने देखते।'' पत्नी की बात सुनकर सरदार सुंदर सिंह के मन में खिसियाहट-सी पैदा होती है। वह बेचैन हो उठता है। उसे समझ में नहीं आता कि वह अपनी पत्नी को कैसे यकीन दिलाए कि सुंदरी उसके घर आई थी।

मोहन राकेश ने एक बेहद पेचीदा विषय को सरलता से इस कहानी में रखा है। पुरुष के स्व को नकार दिए जाने के विषय को

लेकर लिखी गई यह कहानी एक अनूठी कहानी है। कहानी व्यक्ति की नैतिकताओं पर भी सवाल खड़े करती है।

'एक ठहरा हुआ चाकू' मोहन राकेश की एक ऐसी कहानी है जिसमें सामाजिक गुंडों से उत्पन्न भय की कैफ़ियत को महसूस किया जा सकता है। कहानी में एक गुंडा नत्था सिंह कहानी के पात्र बाशी को एक झापड़ महज़ इसलिए मार देता है कि वह उसे उस स्कूटर पर बैठने के लिए मना करता है जिस पर बैठकर वह अपने घर जा रहा है। रास्ते में बर्फ लेने के लिए वह कुछ देर के लिए स्कूटर से उतर जाता है। नत्था सिंह बाशी को झापड़ मारने के साथ- साथ चाकू भी दिखाता है जिससे वह डर कर वहां से भाग खड़ा होता है। पूरी कहानी नत्था सिंह के ख़िलाफ़ शिकायत लिखवाने और नत्था सिंह की शिनाख़्त करने के मानसिक द्वंद्व की कहानी है। बाशी को लगता है कि अगर उसने गुंडे नत्था सिंह के ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज कराई तो वह उसे इस शहर में रहने नहीं देगा। अनेक मानसिक संघर्षों से गुज़रने के बाद बाशी न सिर्फ नत्था सिंह के ख़िलाफ़ शिकायत भी दर्ज करता है बल्कि यह शिनाख़्त भी करता है कि नत्था सिंह ही वह आदमी है जिसने झापड़ मारा था और उसे मारने के लिए चाकू दिखाया था। उसकी शिनाख़्त करने के बाद बाशी उसके ख़ौफ़ से शहर छोड़कर चला जाता है।

मोहन राकेश ने इस कहानी में एक ख़ौफ़नाक यथार्थ को और उस यथार्थ के बीच आदमी के भय को व्यक्त किया है। कहानी में मोहन राकेश यथार्थ को व्यक्त करने का एक नया तरीका अपनाते हैं और कहानी के अंत में किसी अनिष्ट की आशंका के कारण बाशी का पलायन दिखाते हैं। कहानी का बाशी नत्था सिंह का प्रतिरोध तो करता है लेकिन प्रतिरोध के साथ -साथ डर भी जाता है। उसका यह डर कहानी में मौजूद रहता है। नत्था सिंह की पहचान करना उसके मन में एक बोझ है और वह इस बोझ से मुक्ति शहर छोड़कर ही पाता है। मोहन राकेश ने बाशी के भय को बहुत बारीकी से कहानी में उकेरा है। रमण कुमार ने फिल्म और टेलिविजन संस्थान की ओर से इस कहानी पर एक फिल्म भी बनाई है।

मोहन राकेश की इन कहानियों में घर-परिवार के संदर्भ बिखरे हुए हैं। कहानी में ऐसे पुरुष और स्त्री पात्र आते हैं जो अपने - अपने अहं के कारण अपने परिवार, अपने जीवन की बलि देने से भी नहीं चूकते। वह दौर मध्यवर्ग के उभार का दौर था जब व्यक्ति का अहंकार उसके जीवन पर हावी हो गया था। मोहन राकेश ने ऐसे ही चरित्रों को अपनी कथा का आधार बनाया है। ये चरित्र वैचारिक प्रतिबद्धता से कोसों दूर केवल अपने होने में ही ज़िंदगी का सुख तलाश करते हैं। मोहन राकेश अपनी इन कहानियों में रागात्मक संबंधों की ऊर्जा को बचाए रखने के साथ- साथ मध्यवर्गीय परिवारों की पीड़ाओं को दर्ज करते हैं। इन कहानियों में परिवार और व्यक्ति की टूटन को बख़ूबी पढ़ा जा सकता है।

हरियश राय
कथाकार एवं समीक्षक
सम्पर्क: वी-27/15, कुतुब एन्क्लेव
डी.एल.एफ़ फ़ेज़-3, गुरुग्राम
मो. 9873225505,
ई मेल : hariyashrai@gmail.com

मेरी मेज़ को देखकर एक मित्र की सौन्दर्य-दृष्टि को इतनी चोट पहुँचती है कि वे मुँह बिचकाकर अक्सर यह नेक सलाह दिया करते हैं कि मुझे कोई और अच्छी-सी ढंग की मेज़ लाकर रखनी चाहिए। उनका ख़याल है कि यह एक बहुत महीन बात है जो मेरी समझ में नहीं आती कि एक अच्छी मेज़ आदमी को सचमुच अच्छा लिखने की प्रेरणा दे सकती है। पर मैं इस मेज़ पर काम करने का इतना आदी हो चुका हूँ कि लगता है इसके अलावा और किसी मेज़ पर मैं काम कर ही नहीं सकता। (और कैसे कहा जा सकता है कि अच्छी से अच्छी मेज़ यहाँ आकर चन्द दिनों में यही शक्ल अख़्तियार नहीं कर लेगी ?)

मोहन राकेश
'बक़लम ख़ुद'

मोहन राकेश : हिंदी साहित्य का यायावर

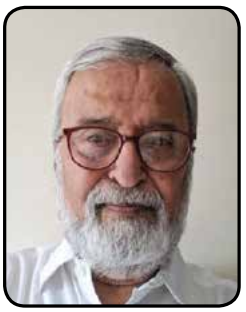

श्रीकांत आप्टे

सन् 1972 या शायद 1973 का साल था। मैं कॉलेज में ही था जब पहली बार एक मित्र की मेहरबानी से हिंदी की साहित्यिक रचनाओं को पढ़ने का चस्का लगा। उसके पहले तक मेरे लिए हिंदी साहित्य का अर्थ इब्ने सफ़ी बी.ए. (वे नाम के साथ डिग्री लिखा करते थे), ओमप्रकाश शर्मा, कर्नल रंजीत के जासूसी उपन्यास हुआ करते थे।

उसी दौर में एक कहानी पढ़ी। आज न उस कहानी का शीर्षक याद है न कथानक। आज कहानी में शिमला के लोअर माल रोड, वहां के कम आय वाले निवासी, लंबी दाढ़ी वाले सरदार, उसकी अंडे, पावरोटी वाली चाय की टीन-टप्पर से बनी दुकान और ग्राहकों के साथ कथानायक का वर्णन भर याद रह गया है। उस समय तक मैंने शिमला देखा नहीं था लेकिन लोअर माल रोड की आवाजाही, सरदारजी, वह दुकान, उसके ग्राहक, कथानायक, सब कुछ संपूर्ण डिटेल्स किसी फिल्म की मानिंद मैं देख रहा था। लग रहा था जैसे मैं ख़ुद भी वहीं, कहीं हूं। आश्चर्यचकित था उस भाषा, शैली और लेखक के लेखन-कौशल पर। हैरान था कि कोई लेखक कैसे बारीक से बारीक बात को पकड़ लेता है और उसे ख़ूबसूरती से बयान भी कर देता है। पचास साल बाद भी जिसकी भाषा और शैली मुझे याद है उसका लेखक था, मदन मोहन गुगलानी यानी मोहन राकेश।

मोहन राकेश अपनी रचनाओं में भाषा को लेकर हमेशा बहुत सजग और सतर्क रहे। उनकी भाषा परिपक्व हुई देशज, तत्सम और तद्भव शब्दों के रचना में प्रयोग से। मोहन राकेश ने कहीं लिखा भी है कि हर सचेत और संवेदनशील लेखक के सामने भाषा से उलझने की समस्या आती ही है। राकेश की हर रचना असल में सार्थक शब्दों की तलाश करती हुई-सी लगती है। वे भलीभांति जानते थे कि भाषा और रचना को एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। ख़ुद के लिखे के प्रति उनमें ज़बरदस्त ' सेल्फ़ रिजेक्शन' भाव था। ख़ुद की रचनाओं को लगातार संशोधित करते हुए कई-कई ड्राफ़्ट बनाया करते थे, जब तक ख़ुद संतुष्ट न हो जाते। इसी रचनात्मक ईमानदारी की बदौलत उनके शब्द जीवंत प्रतीत होते हैं।

मोहन राकेश 'नई कहानी' आंदोलन के अग्रणी कथाकार माने जाते हैं। 1950 से 1965 का समय 'नई कहानी' आंदोलन का समय माना जाता है। आज़ादी मिलने के बाद भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुज़र रहा था। आदर्श खंडित हो रहे थे। सपने बिखर रहे थे। संकल्प बिसर गये-से लगते थे। हकीकत के आईने में सब विद्रूप दिख रहे थे। इन सबका असर कहानी पर होना ही था। यह असर 'नई कहानी' के रूप में सामने आया। 'नई कहानी' आंदोलन की शुरूआत 1955-56 मानी जाती है जिसमें मोहन राकेश के अलावा कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी आदि भी थे। उस दौर में सुनहरी दिखने वाली सच्चाइयाँ व्यंग्य बन गई थीं। भूगोल, इतिहास और मानवीय चेतना सभी खंड-खंड हो गए थे। स्वयं मोहन राकेश के शब्दों में– " निर्माण हुआ बड़े-बड़े भवनों का, सरकारी और अर्धसरकारी संस्थाओं, समितियों और आयोगों का, कारखानों और मशीनों का, बाँध और विकास योजनाओं का और शासकीय शब्दकोशों का। इस निर्माण की सतह के नीचे इन्सान का जो रूप सामने आया, वह बहुत ही विकृत था। लगा कि बड़े-बड़े परिवर्तनों के साये में लोग निरंतर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं। ज़िंदगी का सारा अंदरूनी ढाँचा भुरभुरी मिट्टी की तरह झड़ता-ढहता जा रहा है ..."

'नई कहानी' के लेखकों में मोहन राकेश की अलग पहचान है, लेखकीय निष्ठा और सतर्कता के लिए। व्यक्तिगत व्यवहार और लेखन दोनों में उन्होंने ईमानदारी बरती। उन्होंने लिखा है, "लेखक का वास्तविक कमिटमेंट किसी विचारधारा से न होकर, अपने समय से और समय के जीवन से होता है। लेखक यदि सचमुच कमिटेड है तो वह अंधे की तरह लाठी लेकर अंधेरे में अपने अकेले के लिए रास्ता नहीं टटोलता, बल्कि अंधेरे और आतंक को पैदा करने वाली शक्तियों के साथ समूचे अस्तित्व से लड़ जाना चाहता है। " वे कहा करते थे कि मैं एक असंभव आदमी हूं लेकिन बहुत ईमानदार हूं। व्यक्तित्व की यही बात उनकी रचनाओं को नये

अर्थ, नये आयाम प्रदान करती है। मोहन राकेश की रचनाशीलता की आत्मा यही जीवन-विवेक है। मोहन राकेश मानवीय ऊष्मा की तलाश में बेचैन लेखक थे। वे रचनाओं में जीवन मूल्यों को नयी तरह से परिभाषित करते हैं। लेखन की यही विशिष्टता उन्हें समकालीन लेखकों में ख़ास बनाती है।

उनके समकालीन लेखक जहां नित नये प्रयोग कर रहे थे वहीं मोहन राकेश लेखन में प्रयोगों को लेकर लगभग निरुत्साही थे। आयातित ज्ञान से बचते थे। उस दौर में 'भोगा हुआ यथार्थ', 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का नये लेखन में बड़ा शोर था। लेकिन मोहन राकेश ने ख़ुद को सायास ऐसी नाटकीयता से बचाए रखा। उनकी कहानियों, नाटकों में भी उनके जिये जीवन की झलक है लेकिन रचना की तरह, आरोपित न होकर एकदम सहज रूप में कुछ इस तरह है कि पाठक को लगता है कि अमुक शब्द या अमुक वाक्य को हटा दें तो रचना की अर्थवत्ता कम हो जाएगी। इतनी सुगठित हैं मोहन राकेश की रचनाएं।

राकेश का बेहद लोकप्रिय और चर्चित उपन्यास है 'अंधेरे बंद कमरे'। इसमें भारतीय अभिजात्य समाज के अंतर्विरोधों और त्रासदियों का बेबाक चित्रण है। उपन्यास का केंद्रीय पात्र हरबंस और नायिका नीलिमा के माध्यम से राकेश ने आपसी ईमानदारी और भावनात्मक रिक्तता वाले दाम्पत्य का बहुत प्रभावी ढंग से चित्रण किया है। भारतीय अभिजात्य वर्ग के अंधेरे बंद कमरों को खोलने वाला यह उपन्यास हिंदी साहित्य की बेहतरीन कृति है। उपन्यास ' आने वाला कल' राकेश की एक और महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है। इसमें तेज़ी से बदलते समाज के आर्थिक संघर्ष, स्त्री-पुरुष संबंधों का कुशल चित्रण है। यह उपन्यास समाज में फैलती जा रही अनैतिकता और उसको झेलते आदमी की त्रासदी का मार्मिक चित्रण है।

मोहन राकेश ने कई कालजयी कहानियां और उपन्यास लिखे परंतु मूलत: वे एक नाटककार थे। राकेश के नाटक, जयशंकर प्रसाद के बाद हिंदी के बेहद लोकप्रिय नाटक थे। रंगमंच के चर्चित निदेशकों ने राकेश के नाटकों को मंचित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन ' राकेश का पहला और बहुचर्चित नाटक है। इस नाटक ने नाट्य लेखन की शैली को नया रूप दिया। राकेश के नाटक रंगमंचीय उपकरणों के मोहताज नहीं थे। राकेश के अन्य दो नाटक ' लहरों के राजहंस ' और ' आधे - अधूरे ' भी अत्यंत चर्चित हैं जो लगभग सभी भारतीय भाषाओं में बार-बार मंचित किए जाते हैं।

मोहन राकेश ने जीवन भर यायावरी की। जालंधर, शिमला, दिल्ली, मुंबई कहीं भी टिककर नहीं रहे और न ही टिककर नौकरी की। जालंधर में प्राध्यापकी, शिमला के स्कूल में शिक्षण से लेकर मुंबई में टाइम्स ग्रुप की प्रतिष्ठित पत्रिका 'सारिका' की संपादकी तक कहीं भी टिके नहीं।

मोहन राकेश नामक हिंदी के इस महान यायावर लेखक का सांसारिक जीवनकाल बहुत छोटा, केवल 47 वर्ष था लेकिन रचना-संसार बहुत विशाल था जिसमें कहानी संकलन, उपन्यास, नाटक, यात्रा-संस्मरण, डायरी क्या कुछ नहीं था ! लगता है वह लेखन के लिए ही जन्मा था।

श्रीकांत आप्टे
व्यंग्यकार, चित्रकार व नाटककार
401, सुमित साईप्रसाद
एम.वी. पांडलोसकर मार्ग
वर्मा टेलर गली, विलेपार्ले (पूर्व), मुंबई-400057
मो. 9179990388
ईमेल: shrikant1953@gmail.com

इसके बाद मोहन राकेश दिल्ली में जम गए। परंतु उनके साथ अनेक समस्याएं थीं, घरेलू तथा अन्य। अनेक तरह की समस्याओं के बीच लेखन को चलाना कोई आसान काम नहीं। यह अच्छा हुआ कि उपन्यास लेखन के मामले में उन्होंने अपनी सीमाएँ समझीं और दूसरी विधा में अपने को अभिव्यक्त करने का निश्चय किया। नाटक लेखन की ओर मुड़े तो कुछ ऐसे नाटक दिए, जो उसके पूर्व हिंदी में नहीं आए थे। हिंदी में एक नया नाट्य कीर्तिमान ! बहुत ख़ूबसूरत था 'आषाढ़ का एक दिन'। अप्रत्याशित अनुशासन और आत्ममंथन से जीवन- संघर्षों का गर्द-गुब्बार नीचे बैठ गया और उनकी अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम उभर आया, निर्मल जल की तरह।

अमरकांत
भारतीय लेखक, अक्टूबर-दिसंबर 2005

मोहन राकेश की कहानियों में भाव-वैविध्य

कुसुम लता

पराधीन भारत में जन्मे और आज़ाद भारत में साहित्यिक लेखन की ओर कदम बढ़ाने वाले मोहन राकेश ने परतंत्रता और स्वतंत्रता की सीमा रेखा के दोनों ओर अनेक प्रकार के बदलावों को देखा । ये बदलाव न केवल राजनीतिक स्तर पर थे अपितु पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर भी थे । यही कारण है भारत-विभाजन की पीड़ा के साथ-साथ इन्होंने आधुनिक जीवन की ऊब, पीड़ा, बेचैनी, निराशा, छटपटाहट, संत्रास आदि से जूझते हुए मनुष्य से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास किया है । 'नई कहानी' आन्दोलन के प्रमुख हस्ताक्षर मोहन राकेश प्रसिद्ध कहानीकार रहे । मोहन राकेश सृजनात्मक प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तांत आदि साहित्य की विविध विधाओं में लेखन कार्य किया । युग-चेतना और युगबोध के प्रति मोहन राकेश का यथार्थवादी दृष्टिकोण रहा है । कोई भी साहित्यकार युगबोध से परिचित होने के बाद ही युग-चेतना तक की यात्रा तय करता है ।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में आधुनिकता का प्रवेश हुआ । यह आधुनिकता पूर्ववर्ती जीवन-मूल्यों में परिवर्तन के साथ नए दृष्टिकोण से समय और समाज का आकलन कर रही थी । साहित्य में निहित जीवन-मूल्य मानव-मूल्यों को परिभाषित करते हैं । ये मानव-मूल्य समाज से निर्मित होते हैं । मनुष्य की विसंगत परिस्थितियां उसके जीवन में असंतोष का कारण उत्पन्न करती हैं । ऐसी स्थितियां मनुष्य को बहुत गहराई से प्रभावित करती हैं । मोहन राकेश के कथा-साहित्य में यह भावबोध विशेष रूप से दिखाई देता है । इसकी वजह यह भी हो सकती है कि उन्होंने स्वयं अपने पारिवारिक जीवन में इस तरह की परिस्थितियों का सामना किया है । 'मिस पाल', 'एक और ज़िंदगी', 'जानवर और जानवर' ऐसी ही कहानियां है । शहरीकरण ने मनुष्यों की ज़िंदगी में बहुत बदलाव किये । 'पांचवे माले का फ़्लैट', 'ज़ख़्म', 'सोया हुआ शहर', 'गिलास टैंक' आदि कहानियों में शहरी जीवन की भयावहता, संत्रास आदि समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है । 'इन्सान के खंडहर', 'नये बादल', 'जानवर और जानवर', 'एक और ज़िंदगी' आदि इनके कहानी संग्रह हैं । इनमें शोषित श्रमिक व्यक्ति का संघर्ष, मनुष्य का एकाकीपन, संत्रास, ऊब, विभाजन-विभीषिका, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, अकेलापन, राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि का यथार्थ चित्रण मिलता है ।

1957 में प्रयाग में साहित्यकार सम्मेलन हुआ । इस सम्मेलन में मोहन राकेश, हरिशंकर परसाई और डॉ. शिवप्रसाद सिंह भी थे । इन तीनों साहित्यकारों ने कहानी के साथ 'नयी' विशेषण जोड़ते हुए कहा कि स्वातन्त्र्योत्तर युग में 'नयी कहानी' मानव मन की स्थितियों और उसके जीवन की समस्याओं को नये रूप में उद्घाटित करती है । 'नयी कहानी' में कथ्य और शिल्प के स्तर पर नवीनता दिखाई देती है । इन कहानियों में मनुष्य के यथार्थ का यथार्थवादी चित्रण हुआ है । नयी कहानी के क्षेत्र में मोहन राकेश, कमलेश्वर, नरेश मेहता, राम कुमार वर्मा, हरिशंकर परसाई, लक्ष्मी नारायण लाल आदि का योगदान विशेष उल्लेखनीय है । ये कहानियाँ मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व को उजागर करती है । ऐसा लगता है मानो इस युग की कहानियां मानव जीवन की समस्याओं, उसके राग-द्वेष, अन्तर्द्वन्द्व, मानवीय संवेदनाओं का पुनर्पाठ हैं । मोहन राकेश की कहानियाँ मध्यमवर्गीय परिवार और उसकी समस्याओं के इर्द-गिर्द घूमती दिखाई देती हैं । इनमें जीवन से जुड़ी विभिन्न संवेदनाओं के विविध पक्ष उजागर होते हैं । इनमें पति-पत्नी, बच्चों, मित्रों आदि के साथ-साथ काम करने वाले साथी-सहयोगियों आदि की समस्याओं को उद्घाटित करते हुए उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है । मानव की मनःस्थितियों के द्वारा मानव-मनोविज्ञान का यथार्थ चित्रण इनकी कहानियों में दिखाई देता है । सांकेतिकता एवं व्यंग्यात्मकता इनकी कहानियों में विशेष रूप से मिलती है ।

इनका कथा-साहित्य पात्रों के सामाजिक परिवेश को साथ लेकर चलता है । इनकी कहानियाँ युग-चेतना से प्रभावित हैं । यह युग-चेतना मनुष्य को अपने आस-पास के परिवेश को समझने एवं

मूल्यांकित करने में सहायता प्रदान करती है। यह चेतना समाज के सम्पर्क से निरंतर अबाध गति से विकसित होती है। मानव के सद्गुण एवं दुर्गुण उसके चरित्र को उद्घाटित करते हैं। उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियां उसके चरित्र का न केवल विकास करती हैं बल्कि चरित्र को निखारती भी हैं। पात्र का वैचारिक स्तर उसकी संघर्षशील परिस्थितियों में और भी अधिक निखर कर आता है। यही कारण है कि मोहन राकेश की अधिकांश कहानियां लम्बी हैं। इनकी कहानियां वैचारिकता प्रधान हैं। पात्र इनकी कहानियों में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। दुर्गेश नन्दिनी प्रसाद पात्रों की महत्ता के विषय में लिखते हैं-''पात्रों की स्वाभाविकता इसी में है कि वे जीवन के स्वाभाविक राग, द्वेष, घृणा, करुणा, प्यार आदि से स्वयं प्रभावित हों और हमें भी प्रभावित करें तथा पाठक को यह प्रतीत करा दें कि वे भी सुख में सुखी तथा दुख में दुखी होने वाले रक्त-मांस निर्मित सांसारिक मानव की तरह हैं। वास्तविक जीवन में भी हर व्यक्ति अपना एक अलग व्यक्तित्व रखता है जिसके कारण वह समूह में भी पहचाना जाता है। उसका यही व्यक्तित्व जीवन के संघर्ष में उसे आगे बढ़ाता है। पात्रों में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वे परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए तथा उन्हें बनाते-बिगाड़ते हुए आगे बढ़ें। ''[1] स्वाधीनता के बाद के बदलते जीवन-मूल्यों को मोहन राकेश ने मानवीय संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। पात्रों के जीवन की शून्यता, उनका टूटता-बिखरता व्यक्तित्व, उनका संघर्ष उनके जीवन में त्रिशंकु की तरह काम करता है। वे ऐसे अधर में लटक जाते हैं जहाँ से लौटना उनके लिए संभव नहीं होता है और न ही वे ऐसे किसी प्रयास में सफल होते हैं। सम्बन्धों की यह यंत्रणा उनकी परिवेशगत है।

'मिस पाल' कहानी में मिस पाल का अकेलापन उसके जीवन की नीरसता को दर्शाता है। दफ़्तर के वातावरण में वह ख़ुद को सहज महसूस नहीं कर पाती है। उसके सहकर्मियों का व्यवहार, उनकी टिप्पणियाँ उसे भीतर तक चोट पहुंचाते हैं। यही कारण है कि कार्यालयी क्षेत्र में उसका कोई भी सहयोगी मित्र नहीं बन पाता है। केवल रणजीत से ही उनकी बात होती थी। वह अविवाहित थी। घर में भी उसे माता-पिता का प्यार न मिला और वह पन्द्रह वर्ष की आयु में दिल्ली जैसे शहर में नौकरी करने के लिए आ गई। एक स्त्री की सुन्दरता की शारीरिक संरचना के जो मानदंड समाज ने तय किये हैं, उन पर वह खरी नहीं उतरती थी। साधारण रंग-रूप, शरीर थोड़ा भारी होने के कारण कार्यालयी क्षेत्र में पुरुष सहकर्मियों की टिप्पणियों का शिकार होना पड़ता था। कहानीकार ने दिखाया है कि किस प्रकार वर्क प्लेस पर पुरुष सहकर्मियों की भद्दी टिप्पणियों द्वारा उत्पीड़न किया जाता है। मिस पाल को इस तरह की भद्दी टिप्पणियां बहुत चुभती थीं। इसका संकेत कहानी में मिलता है– ''मिस पाल इन संकेतों से बुरी तरह परेशान हो उठती और कई बार ऐसे मौके पर कमरे से उठकर चली जाती। उसकी पोशाक पर भी लोग तरह-तरह की टिप्पणियाँ करते रहते थे। वह शायद अपने मुटापे की क्षति-पूर्ति के लिए ही बाल छोटे कटवाती थी, बगैर बाँह की कमीज़ें पहनती थी और बनावसिगार से चिढ़ होने पर भी रोज़ काफी समय मेकअप पर ख़र्च करती थी। मगर दफ़्तर में दाख़िल होते ही उसे किसी-न-किसी के मुँह से ऐसी बात सुनने को मिल जाती थी– मिस पाल, इस नयी कमीज़ का डिज़ाइन बहुत अच्छा है। आज तो गज़ब ढा रही हो तुम !'' [2]

उसके सहकर्मी रणजीत के अस्पताल में भर्ती होने पर वह उनका हाल-चाल पूछने जाती थी। उसके घर पर आने के बाद वह कभी दूध, सब्ज़ी लेकर जाती थी ताकि उनके घर में कुछ मदद हो जाये। ऐसे समय में भी लोगों ने उसके बारे में बातें बनाना शुरू कर दिया। इस तरह के भद्दे मज़ाक उसे आहत करते थे। उसके कार्यस्थल का वातावरण उसके प्रतिकूल है, इसलिए उसका वहाँ दम घुटता है। यही कारण है कि वह नौकरी से त्यागपत्र देकर कुल्लू के छोटे से गाँव में चली जाती है, भले ही उसके जीवन का एकाकीपन यहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ता है। मिस पाल के जीवन की व्यस्तता उसके जीवन की अस्त-व्यस्तता का कारण बनती है। रणजीत को अपने यहाँ देखकर वह मन-ही-मन बहुत ख़ुश होती है। उसे अपने घर भी लेकर जाती है। रणजीत देखता है कि घर बहुत ज़्यादा गंदा, अव्यवस्थित, बिखरा हुआ है। खाने-पीने के लिए सही से बर्तन भी नहीं हैं और मिस पाल रोज़ खाना भी नहीं बनाती है। यहाँ तक कि रोटियां भी कई दिन की एक साथ बनाकर रख लेती है। इस तरह का व्यवहार उसकी मानसिक दशा को दर्शाता है। रणजीत से बात करते हुए भी उसके चेहरे पर निराशा के भाव दिखाई देते हैं। शून्यता बोध उसके आचार-विचार और व्यवहार में दिखाई देने लगता है। रणजीत अक्सर उसे समय और परिस्थिति के अनुरूप ढलने के लिए समझाता था– ''मगर तुम यह कैसे कह सकती हो कि जहाँ भी तुम जाकर रहोगी, वहाँ हर चीज़ वैसी ही होगी– जैसी तुम चाहती हो ? मैं तो समझता हूँ कि इन्सान जहाँ भी चला जाये, अच्छी और बुरी दोनों तरह की चीज़ें उसे अपने आसपास मिलेंगी ही। तुम यहाँ के वातावरण से घबराकर कहीं और जाती हो, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वहाँ का वातावरण भी तुम्हें ऐसा ही नहीं लगेगा ? इसलिए मेरे ख़याल से नौकरी छोड़ने की बात तुम गलत सोचती हो। तुम यहीं रहो और

अपना संगीत और चित्रकला का अभ्यास करती रहो। लोग जैसी बातें करते हैं, करने दो।''[3] बहुत समझाने पर भी मिस पाल अपने व्यवहार और सोच में बदलाव नहीं कर पाई।

रणजीत से कुल्लू में मिलकर उसके जाने के बाद मानो टिन के खाली डिब्बों के साथ एकाकी लौटना मिस पाल की नियति है। ये खाली डिब्बे मानो उनके जीवन के एकाकीपन को दर्शाते हैं। इस कहानी के माध्यम से कहानीकार ने मानव मनोविज्ञान को दिखाया है। मिस पाल को बचपन में माता-पिता की उपेक्षा का शिकार होना पड़ा, कार्यालयी स्थल पर पुरुष सहकर्मियों की टिप्पणियों का शिकार होना पड़ा, ऐसे में उसका व्यक्तित्व पूरी तरह से दब जाता है। न वह खुलकर हँस पाती है न ही खुलकर ज़िन्दगी जी पाती है। राकेश ने दिखाया है कि मनुष्य के परिवेश का असर उसके व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है। उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी एकदम उबाऊ और नीरस हो जाती है। मिस पाल के घर का एक-एक अस्त-व्यस्त कोना उनके जीवन की पीड़ा, बिखराव और अस्त-व्यस्तता को दर्शाता है।

'एक और ज़िन्दगी' कहानी में प्रकाश और उसकी पत्नी बीना के बीच सम्बन्धों की कटुता बढ़ते-बढ़ते एक दिन तलाक तक पहुँच जाती है। बीना बेटे पलाश को लेकर अपने मायके चली जाती है। बेटे का जन्मदिन आता है और प्रकाश हज़रतगंज जाता है। वह बीना को पहले ही तार से सूचित भी कर देता है कि वह लखनऊ आएगा और हज़रतगंज ठहरेगा। पलाश के जन्मदिन पर वह उसे प्रकाश से मिलवाने ले आये। प्रकाश दिनभर इंतज़ार करता है लेकिन बीना नहीं आती। बीना के मायके में उसके बेटे के जन्मदिन की पार्टी थी। अगले दिन जब वह मिलने आती है तो दोनों की बच्चे को लेकर बहस भी होती है। धीरे-धीरे समय बीतता है और प्रकाश अपनी ज़िंदगी के विषय में सोचता है– ''सोचने-सोचने में दिन, सप्ताह और महीने निकलते गये। मन में आशंका उठती– क्या सचमुच पहले की ज़िन्दगी को मिटाकर इन्सान नये सिरे से ज़िन्दगी शुरू कर सकता है? ज़िन्दगी के कुछ वर्षों को वह एक दुःस्वप्न की तरह भूलने का प्रयत्न कर सकता है? कितने इन्सान हैं जिनकी ज़िन्दगी कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी दोराहे से गलत दिशा की तरफ भटक जाती है। क्या उचित यह नहीं कि इन्सान उस रास्ते को बदलकर अपने को सही दिशा में ले जाये ? आख़िर आदमी के पास एक ही तो ज़िन्दगी होती है– प्रयोग के लिए भी और जीने के लिए भी। तो क्यों आदमी एक प्रयोग की असफलता को ज़िन्दगी की असफलता मान ले?''[4]

प्रकाश अपने मित्र जुनेजा की बहन से दूसरी शादी करता है लेकिन शादी के बाद उसे पता लगता है कि निर्मला मानसिक रूप से विक्षिप्त है। ऐसे में विवाहित होते हुए भी वह एकाकीपन का शिकार हो जाता है। इनकी कहानियों के पात्र नियति और परिस्थितियों के समक्ष मजबूर दिखाई देते हैं। निर्मला को तलाक देकर प्रकाश कहीं पहाड़ों पर चला जाता है। वहां उसका मिलना अपनी पहली पत्नी से होता है। उसका बच्चा मिलने पर भी उसके साथ अजनबियों-सा व्यवहार करता है। धीरे-धीरे पलाश अपने पिता के साथ घुलमिल तो जाता है लेकिन वह ज़्यादा दिन तक अपने पिता के साथ नहीं रह पाता है। कहानी के अंत में बीना पलाश को लेकर चली जाती है। दाम्पत्य जीवन में सम्बन्धों की अर्थहीनता का बड़ा मार्मिक चित्रण राकेश की कहानियों में मिलता है। दाम्पत्य जीवन की जड़ता और विचारों का अलगाव उनके जीवन की विवशता और विडम्बना में तब्दील हो जाते हैं। इनके पात्र अस्तित्व की खोज में भटकते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि अकेलापन या एकाकीपन उनके जीवन की नियति बन जाता है। पति-पत्नी का गलत निर्णय उनके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी का कारण बनता है। दोनों का एक-दूसरे से परिचित होकर भी अपरिचित की तरह व्यवहार करना, उनके सम्बन्धों की सम्बन्धहीनता को दर्शाता है। प्रकाश पलाश के बार-बार आने से उसके साथ इतना जुड़ जाता है कि उसका जाना प्रकाश के जीवन के खालीपन को और अधिक एकाकी बना देता है। इनकी कहानियाँ सामाजिकता की अपेक्षा आत्मपरक ज़्यादा हैं।

''आज के मानव की स्थिति अत्यंत विचित्र है। वह मशीन के उस पुर्ज़े के समान है जिसका अस्तित्व विचित्र एवं अर्थहीन है और जिसे कभी भी उसी प्रकार के दूसरे पुर्ज़ों के रूप में बदला जा सकता है। आज का मानव अपने अस्तित्व के साथ-साथ अपना विश्वास भी खो बैठा है। इसके मूल में समकालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा औद्योगिक जीवन की अनिश्चयात्मकता है। साथ ही आध्यात्मिक मूल्यों में अनास्था भी उनमें बढ़ती जा रही है। आज का मानव असंख्य प्रयत्नों, क्रियाओं, उपलब्धियों एवं सफलताओं के पश्चात भी आत्मिक पूर्णता एवं आत्मसंतोष से पूर्ण रूप से वंचित हो गया है। इसका मुख्य कारण देश में बढ़ती हुई आर्थिक और सामाजिक असमानता ही है।''[5] 'पाँचवे माले का फ़्लैट' का अविनाश अपने अस्तित्व की खोज में भटकता दिखाई देता है। जीवन का बनावटीपन उसे भीतर तक झकझोर देता है।

'मलबे का मालिक' केवल देश-विभाजन ही नहीं अपितु पूर्ण रूप से साम्प्रदायिक शक्तियों की अनैतिक विजय और मानवीय त्रासदी की मार्मिक कहानी है। चिरागदीन के मकान पर बुरी नज़र रखने वाला रक्खे पहलवान न केवल उसकी हत्या करता है बल्कि उसकी पत्नी ज़ुबैदा और उसकी लड़कियों किश्वर और सुल्ताना को भी मौत के घाट उतार देता है। रक्खे पहलवान चिरागदीन का विश्वसनीय पात्र था। वर्षों बाद गनी मियां अपने बेटे चिरागदीन के घर को देखने आते हैं। घर की जगह मलबा देखकर वे बहुत भावुक हो जाते हैं। गनी इस बात से अनभिज्ञ है कि सबके रखवाले रक्खे ने ही उसके परिवार को समूल उजाड़ दिया है। वह रक्खे के प्रति सद्भाव रखता है इसलिए उससे प्रश्न करता है– ''तुम लोग उसके पास थे, सब में भाई-भाई की-सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता तो तुम में से किसी के घर में नहीं छिप सकता था ? उसे इतनी भी समझ नहीं आई।''[6] यह संवाद न केवल मार्मिक है बल्कि गनी मियां के रक्खे के प्रति असीम विश्वास को भी दर्शाता है जिसे वह कई बरस पहले गनी के परिवार की हत्या करके तोड़ चुका था। यह केवल वैयक्तिक नहीं अपितु सामाजिक त्रासदी ज़्यादा है जिसने सामाजिक सम्बन्धों की मर्यादा और विश्वास को तार-तार कर दिया। चिरागदीन के मकान का मलबा टूटते-बिखरते जीवन-मूल्यों की जर्जर स्थिति को दर्शाता है। साम्प्रदायिकता का दंश इस कहानी के मूल में है।

देश-विभाजन केवल भौगोलिक स्तर पर नहीं था अपितु वह मानवीय सम्बन्धों, जीवन-मूल्यों और धर्म आधारित विभाजन था। इस कहानी के घटना-प्रसंग राजनैतिक रंग में रंगे हुए मानवीय मूल्यों के विघटन पर आधारित हैं। यह कहानी विभाजन के कुछ वर्ष बाद लिखी गई थी। रचनाकार की इसी समकालीनता के विषय में नरेंद्र मोहन लिखते हैं– ''रचनाकार जिस परिस्थिति और समय में जी रहा होता है, वह परिस्थिति और समय किसी न किसी रूप में रचना में प्रतिबिंबित होता ही है। समकालीनता में, इसीलिए, समयगत चेतना का बोध रहता ही है और उसी में से नयी-नयी प्रवृत्तियां पैदा होती हैं। इन प्रवृत्तियों से समकालीन लेखक का सीधा और सच्चा लगाव रहता है, उन अन्तःप्रेरणाओं और अंतर्धाराओं से भी जो उनके पीछे रहती हैं।''[7]

'सुहागने' कहानी में मनोरमा अपने पति सुशील की इच्छा के लिए अपनी भावनाओं का गला घोंट देती है। उसका पति चाहता है कि वह घर-परिवार और बच्चे छोड़कर शहर से दूर नौकरी के लिए जाए। उसे नौकरी करने से कोई परहेज़ नहीं है लेकिन वह अपने परिवार और बच्चे को छोड़कर नहीं जाना चाहती है। वह घर पर रहकर अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों का वहन करना चाहती है, लेकिन उसके पति की इच्छा के कारण ऐसा संभव नहीं हो पाता है। अपनी मानसिक शांति और सुख को पूरी तरह से खंडित करके वह घर से दूर रहकर पैसा ज़रूर कमाती है लेकिन ख़ुश नहीं रह पाती। वह हर क्षण अपने बच्चे की किलकारी सुनने के लिए बेचैन रहती है। वह चाहकर भी अपने खालीपन के बोध के विषय में अपने पति को बता नहीं पाती है। ऐसी परिस्थिति में वह चाहकर भी निर्णय नहीं ले पाती है। उसका निर्णय उसके पति की इच्छा से बंधा है। निर्णय क्षमता का यह अभाव उनके सम्बन्धों की सम्बन्धहीनता को दर्शाता है। अनिर्णय की इस स्थिति को ढोना मानो उसकी स्वेच्छा नहीं मजबूरी है। अल्पना मिश्र 'कहानियां रिश्तों की' कहानी संग्रह में इन्ही सम्बन्धों के विषय में लिखती हैं– ''आज के समय, जबकि उत्तर पूँजीवाद व्यवस्था की भयावहता आम आदमी की ज़िन्दगी में बहुत साफ अपने निशान छोड़ रही है, मूल्यों का विघटन, क्षरण और विरूपित होना तेज़ी से सम्भव हुआ है, नए मानव-मूल्य मनुष्य की आकांक्षा और सपनों के अनुसार विकसित नहीं हो पा रहे हैं, बल्कि वे एक गड्मगड्ड मानसिकता में उलझाव का शिकार हुए हैं।''[8] करूँ या न करूँ का अंतर्द्वन्द्व मनोरमा के जीवन में निरंतर बना रहता है। वह अपनी मनोभावनाओं को दबाकर नीरसता के साथ आगे बढती है। यह कहानी पति-पत्नी के जीवन की कुंठा, तनाव, अजनबीपन, अपरिचय की त्रासद स्थितियों को दर्शाती है।

'जानवर और जानवर' कहानी में पात्रों एवं घटनाओं के माध्यम से दिखाया है कि किस प्रकार मनुष्य जानवरों से ज़्यादा हिंसक और ख़तरनाक होता है। जैसे हम हर जानवर को व्यवहार की दृष्टि से एक जैसा नहीं मान सकते हैं ठीक वैसे ही हर व्यक्ति की मनुष्यता की परिधि अलग-अलग होती है। कहानी के पात्रों के माध्यम से स्कूल के पादरी की मानसिकता, स्कूल के शिक्षकों के साथ उसका सख़्त और अशिष्ट व्यवहार उजागर होता है। फ़ादर फ़िशर के आदेशानुसार स्टाफ़ के हर सदस्य को गिरजे में उपस्थित होना अनिवार्य था और जो इसाई नहीं थे उनका रोज़ आना और भी ज़रूरी था। फ़ादर को जिसका रवैया अपने विपरीत लगता उसे ही स्कूल से निकाल देता था। कहानीकार ने दिखाया है कि ईश्वर के प्रति आस्था केवल उसका नाम जपने से नहीं होती बल्कि मनुष्य के कर्म और व्यवहार ही उसे ईश्वर के निकट लेकर आते हैं। पाल ने एक आवारा कुत्ते को पाल लिया था। एक दिन पादरी ने उसके कुत्ते को कैनेडा से लाई अपनी कुतिया डॉली के साथ देख लिया। बस फिर क्या था अपनी राइफ़ल की एक फ़ायर में उसने

बेबी को चित्त कर दिया और डॉली को गर्म पानी से नहलवाकर इंजेक्शन भी लगवाये। पादरी का यह व्यवहार पाल की समझ से परे था। विरोधस्वरूप अब उसने गिरजे में जाना बंद कर दिया। पादरी को यह बात किसी भी कीमत पर स्वीकार न थी कि कोई भी उसके आदेश का उल्लंघन करे। पाल भी निडरता से उसके गुस्से का जवाब गुस्से में देता रहा– '' 'मेरा मतलब है पादरी, कि रात को हम गरीब जानवरों को गोली से मारते हैं और सुबह गिरजे में जाकर उनकी रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, इससे कुछ मतलब निकलता है?' पादरी पल-भर ख़ून-भरी आंखों से पाल को देखता रहा। उसकी सांस तेज़ हो आई थी। 'मतलब निकलता है और वह यह कि हर जानवर एक-सा नहीं होता। जानवर और जानवर में फ़र्क होता है,' उसने दाँत भींचकर कहा और पास के दरवाज़े से बाहर चला गया–''[9]

'वारिस' कहानी लेखक के बाल्यकाल की स्मृतियों पर आधारित है। बचपन में गुरु की आन्तरिक भावनाओं की अपेक्षा उसके बाहरी व्यक्तिव को शिष्य ज़्यादा देख पाते हैं। समय बीतने पर गुरु के व्यवहार और उसके पीछे के कारण उनकी समझ में आने लगते हैं। मास्टर जी के मनोभावों का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण इस कहानी में हुआ है। बाल मनोविज्ञान का इस कहानी में यथार्थ चित्रांकन हुआ है। मास्टर जी का बच्चों को पढ़ाने आना और बच्चों का ध्यान समय पर रहना आम बात थी। उन्हें लगता भी था कि मास्टर जी आते तो बिल्कुल सही समय पर हैं लेकिन कभी समय पर जाते नहीं हैं। हमेशा ज़्यादा ही पढ़ाकर जाते हैं। ऐसे भाव किसी भी बालमन में आने स्वाभाविक हैं। छोटे-छोटे घटना प्रसंगों से मास्टर जी का चरित्र उभरकर आता है। वे अध्यापन के प्रति पूर्णतः समर्पित शिक्षक थे। आर्थिक तंगी के दिनों में भी उनके उसूल रहे कि वे किसी से ख़ैरात नहीं लेंगे। काम करके मेहनत से रोटी खाना चाहते थे। कक्षा के लिए सदैव समय पर आना उनकी आदत में शामिल था। उन्होंने हमेशा अपने काम के प्रति ईमानदारी दिखाई।

उनको जब टाइफ़ाइड हुआ तो एक महीने लेखक ने उनकी सेवा की। उनकी दवाई लाना, उनके पास बैठे रहना आदि। मास्टर जी के कमरे में सामान अति सीमित था लेकिन जो भी था उसे टटोलने और देखने में लेखक की बड़ी रुचि उत्पन्न हुई। बचपन में सभी बच्चों के मन में ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक है। मिट्टी के फ़र्श पर बैठे-बैठे लेखक के द्वारा बालपन में आकृति बनाते हुए वे मास्टर जी के कमरे में बैठे रहते, दीवार के उखड़े प्लस्तर में तरह-तरह की आकृतियाँ ढूंढ़ते रहते थे। मास्टर जी के प्रति लेखक का बालमन भी ऐसे समय में कहीं-न-कहीं अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा था।

मास्टर जी के स्वास्थ्य लाभ होने पर फिर से पढ़ने-पढ़ाने का सिलसिला जारी हुआ लेकिन इस बार यह ज़्यादा दिनों तक नहीं चल सका। मास्टर जी ने अंग्रेज़ी बी के पेपर के बात निराशापूर्ण शब्दों में बताया कि वे अब पढ़ाने कभी नहीं आयेंगे। उन्होंने कहा कि वे अब कुछ दिन गरुड़चट्टी में रहेंगे, फिर घने पहाड़ों में रहेंगे और कभी नहीं लौटेंगे। बाहर से सख़्त दिखने वाले गुरु का कोमल हृदय बच्चों से विदा लेते समय दिखाई दिया। इसका कारण यह भी सकता है कि उन्होंने स्वयं देखा था कि लेखक ने किस तरह उनके शारीरिक रूप से अस्वस्थ होने पर उनकी सेवा-सुश्रूषा की थी। जाते समय उनकी भावुकता का स्मरण करते हुए लेखक लिखते हैं– ''मास्टरजी ने हमसे कोई बात नहीं की, सिर्फ हमारे सिर पर हाथ फेरा और 'अच्छा' कहकर चल दिये। हम लोग उनके साथ-साथ ड्योढ़ी तक आये। वहाँ रुककर उन्होंने मेरी ठोड़ी को छुआ और कहा, 'अच्छा, मेरे बच्चे !' और काँपते हाथ से उन्होंने किसी तरह अपना भूरा फ़ाउण्टेन पेन जेब से निकाला और मेरे हाथ में दे दिया। रख लो, रख लो, उन्होंने ऐसे कहा जैसे मैंने उसे लेने से इन्कार किया हो! बहुत अच्छा तो नहीं है, मगर काम करता है। मुझे तो अब इसकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। तुम अपने पास रख छोड़ना ... या फेंक देना .... उनकी आँखें भर आई थीं इसलिए उन्होंने मुस्कुराने का प्रयत्न किया और मेरा कन्धा थपथपाकर खट-खट सीढियाँ उतर गये।''[10] मास्टर जी का संघर्ष मानो उनके अस्तित्व और पहचान की तालाश का संघर्ष है जो उन्हें एकाकी बना देता है।

मोहन राकेश की प्रायः सभी कहानियों में आत्म-विश्लेषण, आत्म-मूल्यांकन, मानसिक द्वंद्व, पारिवारिक-सामाजिक दबाव आदि भावों का वैविध्य दिखाई देता है। पात्रों के मानसिक संघर्ष की लेखक ने मार्मिक अभिव्यक्ति की है। कहानियों के पात्रों की निर्णय-अनिर्णय की स्थिति उनके मानसिक अन्तः संघर्ष का कारण बनती है। अधिकतर परिस्थितियों में वे अपने परिवेश के साथ ताल-मेल बैठाने में असफल दिखाई देते हैं। यही कारण है कि लोगों के बीच में रहने पर भी अकेलेपन का भाव-बोध और अपनों के बीच में रहने पर भी अजनबीपन के भाव का दबाव दिखाई देता है। परिस्थितियां उन पर हावी दिखाई देती हैं। उनके

जीवन का खालीपन तेज़ रफ़्तार ज़िंदगी की गति धीमी कर देता है । मोहन राकेश बदलते परिवेश के कहानीकार हैं । इनके कथा-साहित्य में दाम्पत्य जीवन की मधुरता विडंबना में परिवर्तित होती दिखाई देती है। इनमें आधुनिकता बोध के विविध रूप भी दिखाई देते हैं। साथ ही आत्म-चिंतन, अन्तः संघर्ष, अस्तित्ववादी दृष्टिकोण की यथार्थ अभिव्यक्ति भी हुई है। मानव-मनोविज्ञान और अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का सामंजस्य इनकी कहानियों में दिखाई देता है । मध्यवर्गीय जीवन की अनेक समस्याएं, मानव-जीवन की भावनात्मक जटिलताएँ, व्यक्ति व समाज के मध्य द्वंद्व, निजी-सामाजिक दबाव आदि इनके कथा-साहित्य का आधार-स्तम्भ हैं । इनकी कहानियां मानव-जीवन के सूक्ष्मतम पहलुओं को संवेदना के साथ छूती हैं।

संदर्भ

1. दुर्गेश नन्दिनी प्रसाद, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में पुरुष पात्र, गीता प्रकाशन, पृ. 6, हिंदी बुक सेंटर, हैदराबाद, 1993
2. मोहन गुप्त (सम्पादक), मोहन राकेश प्रतिनिधि कहानियां, पृ. 12, राजकमल प्रकाशन, 2004
3. वही पृ. 92
4. वही पृ. 92
5. दुर्गेश नन्दिनी प्रसाद, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में पुरुष पात्र, पृ. 286, गीता प्रकाशन, हिंदी बुक सेंटर, हैदराबाद, 1993
6. कमलेश्वर, मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियां, पृ. 56, राजकमल प्रकाशन, 1966
7. नरेंद्र मोहन (सम्पादक), समकालीन हिंदी कहानियाँ, पृ. 13, भारतीय प्रकाशन संस्थान, 1994
8. अल्पना मिश्र : कहानियाँ रिश्तों की, पृ. 9, राजकमल प्रकाशन, 2014
9. कमलेश्वर, मोहन राकेश की श्रेष्ठ कहानियां, पृ. 32, राजकमल प्रकाशन, 1966
10. मोहन गुप्त (सम्पादक), मोहन राकेश प्रतिनिधि कहानियां, पृ. 143, राजकमल प्रकाशन, 2004

कुसुम लता
सहायक प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग
दौलतराम महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पर्क: 27, सूरज नगर, आज़ादपुर
दिल्ली-110033
मो. 9810640578
ईमेल: dr.kusum77@gmail.com

राकेश ने अपने जीवन और साहित्य में जिस मानवीय संकट को महसूस किया, उसने उनके साहित्य को अपूर्व क्षमताएँ दी हैं। राकेश मसीहा था या नहीं, यह मैं नहीं जानता, पर उनके साहित्य का स्वर मसीहाई ज़रूर है। इस अर्थ में नहीं कि उसमें कहीं ज्ञान, प्रवचन या चिंतन की बातें हैं, बल्कि इस अर्थ में कि उसमें अस्तित्व संबंधी कुछ मौलिक प्रश्न उठाए गए हैं। राकेश ने हिन्दी नाटक में पहली बार अस्तित्व के प्रश्न उठाए और उनको नई भंगिमाएँ दीं। उनकी रचनाएँ एक विशिष्ट धरातल पर जीवन का अर्थ खोजती हैं। और यह अर्थ वे शून्य में नहीं खोजते। जीवन की विसंगतियों और उनके प्रति आक्रोश के बीच से उनके नाटकों के अर्थ उभरते हैं। यह आक्रोश एकदम भौतिक नहीं, वरन् आधिभौतिक स्तर को भी छूता है क्योंकि लेखक की खोज भौतिकता के बीच भी अभौतिकता की, संभव के बीच भी असंभव की खोज है।

गोविन्द चातक
आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश

डायरी का फलक

आईने से कुछ कम : मोहन राकेश की डायरी

देवेश

डायरी, पत्र और आत्मकथा अन्तरंग विधाएं हैं । अन्य सभी विधाओं में लेखक मौजूद तो रहता है लेकिन उस तरह प्रत्यक्ष नहीं जैसे इन विधाओं में वह प्रत्यक्ष होता है । यूँ तो साहित्य रचना में ईमानदारी का अपना महत्व है लेकिन उपरोक्त तीनों विधाओं में इसका रूप भिन्न होता है । यहाँ ईमानदारी का अर्थ घटनाओं को स्पष्ट रूप से लिखने से है, बिना किसी पक्षपात के। साथ ही अपने मन में चलने वाली बातों को भी बिना किसी परदे के लिखना भी इसी में शामिल है। इन तीनों को ही रचते हुए लेखक अपनी एक छवि भी रच रहा होता है, जिसके द्वारा पाठक लेखक के प्रति धारणाओं का निर्माण कर सकता है, करता भी है । इसीलिए यहाँ लेखक का निडर और साहसी होना अपेक्षित रहता है। हो सकता है वह जो कुछ लिख रहा हो वह किसी के जीवन को एकाएक पलट दे लेकिन फिर भी उसे ईमानदारी से लिख लेना होता है। यही इन्हें रोचक भी बनाता है।

व्यक्ति अपनी दृष्टि से अपने जीवन और घटनाओं को देखता है। वह अपने आसपास के लोगों और संबंधों को लेकर भी मत बनाता और बदलता है। इसे एक स्थान पर समय के संकेतों के साथ लिख लेने से उसका एक व्यक्तिगत अतीत संकलित हो जाता है। डायरी यही काम करती है। डायरी में रोज़मर्रा की बातें, घटनाएँ, अनुभव, कल्पनाएँ, विचार आदि शामिल हो सकते हैं, लेकिन इसका दृष्टिकोण लेखक का ही दृष्टिकोण होता है। लोग अलग-अलग तरह से इस विधा को बरतते रहे हैं। डायरी असल में लिखने वाले के जीवन और अंतर्मन में प्रवेश करने का एक दरवाज़ा बन जाती है। लिखने वाले ने किस दिन क्या किया, क्या सोचा, क्या भोगा यह सब डायरी से जाना जा सकता है, लेकिन केवल तभी जब लिखने वाले ने उसे अंकित किया हो। वह भी ईमानदारी से। डायरी से लिखने वाले के अनुभव संसार में आने वाले अन्य व्यक्तियों और उनके जीवन का भी परिचय मिलता है। रोज़ या कभी-कभी की मुलाक़ातों के तबिसरे उन लोगों के भी चरित्र का निर्माण करते हैं। वे घटनाएँ जो केवल स्मृतियों का हिस्सा बन गईं हों अथवा जिन्हें कहने का कोई अन्य मंच उपलब्ध नहीं है, उन्हें डायरी में लिखकर लेखक कह देने के भाव को महसूस कर सकता हैं। ऐसा भी तो होता है कि बहुत सी बातें व्यक्ति किसी से कह नहीं सकता। लेकिन उन बातों का अपना बोझ होता है। उससे हल्का होने के लिए व्यक्ति डायरी का सहारा लेता है । यही डायरी में अंतरंगता पैदा करता है।

हिंदी साहित्य में डायरी कभी भी प्रमुख विधाओं में शामिल नहीं रही है। लेकिन बहुत से बड़े लेखकों ने इसे महत्व प्रदान किया है। उन्होंने डायरियाँ लिखीं और प्रकाशित कीं। मलयज, रमेशचंद्र शाह, त्रिलोचन, कृष्ण बलदेव वैद्य आदि लेखकों का नाम डायरी के संदर्भ में बहुत आदर के साथ लिया जाता है। दिनकर, गोरख पांडे और शैलेश मटियानी ने भी डायरी लिखी । इन लेखकों ने डायरी का न केवल विकास किया बल्कि उसे एक विधा के रूप में स्थापित भी किया। बहुत से लेखक ऐसे भी हैं जिनकी डायरी बहुत लोकप्रिय भी रही हैं। मोहन राकेश का नाम भी ऐसे लेखकों में लिया जाता है।

मोहन राकेश की पहचान एक नाटककार के रूप में अधिक रही है । उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे लेकिन एक नाटककार के रूप में उनकी ख्याति ने उनके कहानीकार और उपन्यासकार के स्वरूप को ढक लिया। उनका नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' लोकप्रिय रहा और उसका पहला संस्करण बहुत जल्द ही बिक गया। इस संदर्भ में मोहन राकेश स्वयं डायरी में लिखते हैं– "दस साल कहानियाँ लिखते रहे – किसी ने उनकी इस तरह मुक्तकंठ से प्रशंसा नहीं की।" लेकिन अपनी अन्य रचनाओं के साथ-साथ मोहन राकेश अपनी डायरी भी लिख रहे थे। ये अलग बात है कि अपने रोज़मर्रा को इस तरह लिखना उनके लिए ख़ासा उलझाऊ था। तारतम्यता टूटती-जुड़ती रहती थी। वे स्वयं कहते हैं, "मैं ज़िन्दगी भर डायरी लिखने की आदत नहीं डाल सका। मैंने कई बार कोशिश की, कई दिन लगातार कई-कई पन्ने लिखे भी, परन्तु फिर वह डायरी वहीं की वहीं छूट गयी– कभी साल-छः महीने बाद मैंने फिर आगे चलने की चेष्टा की तो फिर वही अंजाम हुआ।" जितना हो सका उन्होंने डायरियाँ लिखीं। 'ज़रूरी संपादन' और राकेश की मृत्यु के बारह वर्ष के अंतराल के बाद वह प्रकाश में आई।

यह डायरी मोहन राकेश के जीवन के बीस वर्षों को अपने में समाहित करती है। लेकिन इन बीस वर्षों में भी बीच में लम्बे अंतराल आ जाते हैं। इन अंतरालों की बातें कहीं नहीं हैं, या हो सकता है सम्पादन में बहुत कुछ हटा दिया गया हो। बहुत से नाम हैं जिन्हें न, म, उ आदि से बदल दिया गया है। अनीता राकेश इस तरह के सम्पादन का तर्क भी भूमिका में देती हैं। मोहन राकेश ने डायरी में कुछ प्रसंगों को अंग्रेज़ी में भी लिखा है। मोहन राकेश ने अपनी डायरी में कुछ विशेष पत्रों को भी शामिल किया है। वीणा, अश्क दम्पति तथा कुछ अन्य लोगों के पत्र भी इस डायरी का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। डायरी में आरंभिक दस वर्षों में बहुत विस्तार से दिनों को लिखा गया है। उसके बाद डायरी बहुत जल्दी भागती है। बाद के दस वर्षों में बहुत छलांगें हैं। लिखने का अंदाज़ बहुत संक्षिप्त भी है। डायरी लिखना कई बार रस्म अदायगी की तरह भी नज़र आता है। इस प्रकाशित एक डायरी के भीतर दो तरह के लेखन के रूप स्पष्टतः देखे जा सकते हैं। पहला रूप वह जहाँ हर भाव को बहुत विस्तार से लिखा गया है। यह रूप आरंभिक दस वर्षों में दिखाई देता है–

"जालंधर : 22.7.57

बहुत बरस भटकता रहा हूँ।

सन बयालीस में जब मैं लाहौर हॉस्टल में दाखिल हुआ था तो मैं जीवन में और साहित्य में अपने लिए मार्ग तलाशने का प्रयत्न आरम्भ कर चुका था। अपनी परिस्थितियों और अपने आसपास के माहौल को देखने-परखने की दृष्टि विकसित हो रही थी। मैंने उन दिनों गद्य और पद्य लिखने के जो प्रयत्न किये थे, वे अब भी मेरी स्मृति में ताज़ा हैं। ठीक दिशा में चलता जाता तो अब तक ज़रूर मैंने कुछ लिख लिया होता।''

दूसरा रूप वह है, जहाँ घटनाओं को संक्षिप्त रूप से अंकित किया गया है–

" 27.8.64

स्थान – कमलेश्वर का कमरा। अवसर – बियर की तीन बोतलें। भोक्ता राकेश, कमलेश्वर। भोजन : राजेन्द्र। विषय : राजेन्द्र की बेईमानी।

विषयारंभ : राकेश के कंफेशंस। स्थिति का विश्लेषण।

मध्य : राजेन्द्र का भलमनसाहत से कथ्य का आरम्भ। परन्तु शुरू करते ही कुंठा। फिर बेईमानी। .....आखिर स्वीकृति।

अंततः एक लेख की योजना।"

डायरी में अन्यत्र दिया गया घटनाओं तथा भावों का एक वर्णन और–

''जालंधर: 22.7.58

गाड़ी का सफ़र और सिरदर्द

घर, माँ, अपनापन।

दस-बारह दिन की डाक।

माँ के नाम आए वीणा के पत्र को छोड़कर और–

शरत् के पत्र को छोड़कर किसी पत्र में 'इमोशन' का स्पर्श तक नहीं–

यहाँ जीवन फिर जैसे जड़ और स्तब्ध है।''

यह दूसरे तरह का लेखन ऐसा नहीं है कि प्रयोग के लिए एक-दो स्थानों पर किया हो, ऐसा बहुत स्थानों पर है। और आगे तक जाता है। इस संक्षिप्तीकरण के पीछे का कारण शायद अनिच्छा रही हो।

मोहन राकेश का व्यक्तित्व अपना बहुत कुछ आकार जालंधर में ही ग्रहण करता है। मोहन राकेश जब जालंधर रहे तो लगातार जालंधर छोड़ने के भाव से जूझते रहे। उन्हें लगता कि कहीं और जाकर ठीक तरह काम किया जा सकता है। इस शहर में वह बात नहीं है। लेकिन जैसे ही वे जालंधर छोड़ने का निर्णय लेते तुरंत ही उसे पलट भी देते। हालाँकि इस संदर्भ में उन्होंने मुंबई, दिल्ली आदि स्थानों की यात्राएँ भी कीं। अपने ठिकाने बनाने के प्रयास भी किए, लेकिन वे फिर जालंधर लौट गए। इसी तरह अध्यापन और स्कॉलरशिप छोड़ने को लेकर भी वे उलझते रहे। हालाँकि उनके भीतर इन दोनों को ही छोड़ देने का साहस प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। मोहन राकेश का जो चरित्र इस डायरी में उभरता है उसमें प्रेम की आकांक्षा केन्द्रीय नज़र आती है।

अपने पहले विवाह के असफल हो जाने ने उन्हें भीतर तक तोड़ दिया। लेकिन प्रेम के प्रति उनके मन में आकांक्षा बनी रही। उनके कई स्त्रियों के साथ सम्बंध भी रहे लेकिन वे बहुत टिकाऊ सिद्ध नहीं हुए। वीणा एक पात्र इस डायरी में है जिसके प्रति मोहन राकेश का हृदय असीम प्रेम और आदर से भरा रहता है, लेकिन उसके पास रहा नहीं जा सकता। वे विवाहित हैं और उनकी एक पुत्री भी है। व्यक्ति भले ही अपने मन के सारे बंधनों को तोड़ दे किन्तु सामाजिक बंधन उसे फिर भी बांधे रहते हैं। लेखक भी समाज का ही हिस्सा होता है। वह निरपेक्ष नहीं होता। लेखक मूल रूप से मनुष्य होता है, इसलिए मनुष्य के जीवन की विडम्बनाएं और सीमाएँ उसके भी जीवन में रहती हैं।

मोहन राकेश का एक पुत्र भी है नवनीत, जो उनकी पत्नी से सम्बंध-विच्छेद के कारण उनसे दूर हो गया है। मोहन राकेश उसके लिए भी स्नेह से भरे हैं, लेकिन वे उसे भी उस तरह पा नहीं सके। यहाँ तक कि उसके ऑपरेशन के वक़्त भी परिस्थितियों के कारण वे अस्पताल नहीं गए। मोहन राकेश का व्यक्तिगत जीवन लगातार बहुत सारे झंझावातों से गुज़रता रहा। पहले आर्थिक तंगी, फिर ठीक से काम न कर पाने की टीस, प्रेम न मिल पाने की पीड़ा और फिर एक रचनाकार के तौर पर उनकी असंतुष्टि। लेकिन इन सब पर लगातार चलने वाले बियर के दौर उन्हें संभाले रहे। उनके मित्रों ने

उनके जीवन को चलायमान रखा और वे लगातार रचनारत रहे। सन बहत्तर में आकस्मिक मृत्यु आ खड़ी न होती तो न जाने उनकी कितनी और रचनाओं के हम साक्षी होते।

मोहन राकेश की डायरी की नज़र से उनका व्यक्तित्व देखें तो वे अपने विचारों और कार्यों में बहुत स्पष्ट नज़र आते हैं। वे जो करते हैं सोद्देश्य करते हैं और उनके हर कार्य में एक गहरी दृष्टि का परिचय मिलता है। मोहन राकेश मानवीय संबंधों का भी बहुत आदर करते हैं। ऐसा नहीं कि वे केवल अपने मित्रों या परिवार का ही आदर करते हों। जीवन के अलग-अलग पड़ावों पर साथ रहे लोगों को भी वे अपनी स्मृति में बसाए रखते हैं। मोहन राकेश बहुत स्पष्टतावादी भी हैं। उन्हें जो जैसा दिखता है उसे उसी तरह ही रखते हैं। अपने जीवन में आए लगभग सभी लोगों के बारे में जो विचार उन्होंने डायरी में लिखे हैं उनमें कोई लाग-लपेट नहीं है। वे सीधे तरीक़े से अपनी बात रखते हैं। अपने मित्र राजेन्द्र यादव के बारे में वे लिखते हैं– "दिल्ली में रहकर जिस व्यक्ति को सबसे ज़्यादा पहचाना है, वह है राजेन्द्र यादव। यह तो कहना शायद ठीक न होगा कि वह मूलतः ही घटिया आदमी है उसमें अच्छाइयाँ भी हैं निस्संदेह– मगर वह इन्फ़ीरियोरिटी कॉम्प्लेक्स से ग्रस्त है। उसी वजह से शायद उसमें इतनी ईर्ष्या की भावना है। वह हमेशा ऐसी ही बात करेगा जिसमें तुम्हें चोट लगे, दुःख पहुँचे। He cannot make you feel happy! तुम उसके लिए कुछ भी करो वह अपनी आदत से लाचार वैसी ही हरकतें करता जाएगा।"

मोहन राकेश ने डायरी में अपने व्यक्तित्व की ख़ामियों को छिपा लिया हो या उसे हल्का कर दिखाया हो ऐसा नहीं है। उनकी जो ख़राब आदतें हैं उनका वर्णन भी वे डायरी में करते हैं, मसलन माँ की ग़लती न होने पर भी उससे लड़ाई कर लेना। कितनी ही बार ऐसा हुआ कि मोहन राकेश की माँ ने कोई काम किया या कोई बात कही जो उन्हें अच्छी नहीं लगी तो लड़ बैठे माँ से। जबकि माँ किसी भी तरह उन्हें परेशान नहीं करना चाहती थीं। इसपर मोहन राकेश ख़ुद भी परेशान हो जाते हैं। मोहन राकेश अपनी माँ को सबसे महान मानते थे। वे लिखते हैं– "मैंने अपने आज तक के जीवन में जिस सबसे महान व्यक्तित्व का परिचय किया है, वह मेरी माँ है। यह भावुकता नहीं है। मैंने बहुत बार तटस्थ रूप से इस नारी को समझने का प्रयत्न किया है और हर बार मेरे छोटेपन ने मुझे लज्जित कर दिया है।"

एक रचनाकार के तौर पर मोहन राकेश को इस डायरी के माध्यम से देखना भी बहुत रोचक है। उनका अनुभव को कहने का तरीका इतना ताज़ा और नया नज़र आता है कि पाठक उसमें बंधता चला जाता है। कभी वे बातों को बहुत स्पष्ट रूप से कह देते हैं तो कभी इस रचनात्मकता से गद्य की रचना करते हैं कि वह काव्यात्मकता से लबरेज़ हो जाता है। कहीं-कहीं उनमें नाटकीयता उभर आती है। डायरी में एक स्थान पर वे लिखते हैं–

"डलहौज़ी : 18.6.53

बादल बरस रहे हैं। मेरे कमरे के बाहर घाटी में हल्के-हल्के सफ़ेद बादल भरे हुए हैं। अपनी वासना के उन्माद में बादल गरजता है– बरसती बूँदों से धरती में वही वासना नर्तन करती है। धरती उन बूँदों को पीकर तृप्ति को स्वीकार करती है...नये अंकुर, नये जीवन के रूप में सारी हरियाली धरती के अन्दर से फूट पड़ने के लिए करवटें लेने लगती है। मेरे पौराणिक दोस्तो, माँ धरती तुम्हारे सामने अभिसार करती है और तुम्हारी नैतिकता की भावना, तुम्हारी पहरेदारी, तुम्हारी जीवन के विकास को रोकने की प्रवृत्ति जागृत नहीं होती? यदि यह विश्वमय अभिसार तुम्हारी व्याघातक प्रवृत्तियों को जागृत नहीं करता तो मेरे पौराणिक दोस्तो, तुम यह क्यों नहीं सोचते कि हम भी माँ धरती की संतान हैं। और हमारे निर्माण का सबसे बड़ा भाग वही धरती है, जो इतनी आतुरता से बरसते हुए बादलों की बूँदों को पी रही है।"

डायरी में अन्यत्र दिया गया वर्षा का एक वर्णन और–

''कल रात ख़ूब वर्षा हुई थी। इस समय सारा विश्व मेंढकमय हो रहा है– जैसे सृष्टि के प्राणों में एक स्वर हैं– टर्र-रैं-टर्र-रैं–

आओ मदन मोहन, अब सो जाएँ।

हमारी 'रात की रानी' पहली बार खुशबू दे रही है।''

मोहन राकेश विषयानुरूप शिल्प-निर्माण करने में महारथी थे। उनकी डायरी से इतर की रचनाओं में भी यह देखा जा सकता है। वे लेखन को लेकर भी कई दफ़ा जूझते नज़र आते हैं। वे जिस तरह लगातार काम करते रहना चाहते हैं, वह हो नहीं पाता था। जालंधर में उनकी मित्र-मण्डली उन्हें खींचती रहती है। कभी-कभी स्वयं उनका मन भटक जाता तो कभी कुछ काम ऐसे निकल आते जिन्हें किया जाना आवश्यक होता। ऐसे में लिखना हो नहीं पाता। इसी दुविधा और संघर्ष में वे खीजते रहते हैं। कभी-कभी वे अपने इस तरह होने को लेकर भी संशयग्रस्त हो जाते हैं। वे समझ नहीं पाते कि अपने व्यक्तित्व के जिस आकार को लिए वे चल रहे हैं, वे उतने बड़े हैं भी या नहीं।

"जालंधर : 18.9.57

अपने से शंका होती है।

क्या सचमुच मैं 'वह' हूँ, जिसकी कभी अपने से आशा होती थी और जिसकी कुछ दूसरे अब भी आशा रखते हैं? कभी-कभी अपनी योग्यता और genuineness पर बहुत संदेह होता है। लगता है यह सब बाहरी आडम्बर है– अपने को और दूसरों को छलने की एक विडम्बना मात्र है। अपने लिखे से और लिखने की इच्छा से वितृष्णा होती है। क्या सचमुच मुझमें वह है, जो इस कार्य के लिए होना चाहिए?"

अपने प्रति इस तरह किस शंकाएं मोहन राकेश को और मनुष्य बनाती हैं। उनके भीतर यदि किसी भी तरह का अहम् भाव या आत्ममुग्धता होती तो शायद ऐसा वे कभी नहीं

लिखते। 'आषाढ़ का एक दिन' की ख्याति और सफलता के बाद तथा संगीत-नाटक अकादेमी के सर्वश्रेष्ट नाटक की घोषणा हो जाने के बाद भी उनके मन में कुछ उदासी रह जाती है– "...की रात को रेडिओ पर समाचार आया कि संगीत-नाटक अकादेमी की ओर से सर्वश्रेष्ठ हिंदी नाटक का एवार्ड 'आषाढ़ का एक दिन' पर दिया गया है। उसके बाद से आज तक – ये दो सप्ताह इतनी जल्दी बीते हैं कि कुछ पता ही नहीं चला। पार्टियाँ, समारोह, लेख, आलोचना, कहकहे, और सबके बीच एक गहरी नामालूम उदासी– वह उदासी क्यों रही है कह नहीं सकता। कह नहीं सकता कि पुरस्कार की अवचेतन पर किस प्रक्रिया का यह परिणाम है।"

मोहन राकेश की कौन सी रचना किस समय पर रची गई इसे तो उनकी डायरी के माध्यम से देखा जा सकता है, लेकिन रचनाओं की रचना प्रक्रिया क्या रही इस बारे में वे कुछ विशेष नहीं लिखते। उन्होंने कई बार रचनाओं को लेकर मूलभूत सूचनाएँ अवश्य लिख दी हैं। मोहन राकेश के साहित्य के प्रकाशन से संबंधी कुछ जानकारियाँ भी डायरी से मिलती हैं। पत्रिकाओं द्वारा ठीक मानदेय न दिए जीने को लेकर भी मोहन राकेश खफ़ा-से रहते थे। इसके संदर्भ में वे कमलेश्वर के पत्र का उत्तर देते हुए लिखते हैं–

"डियर,

तुम्हारे पत्र की अंतिम पंक्ति है– 'तुम्हारे मुआफ़िक गुस्सा आता है।' मगर गुस्से के बाद समझौता तो नहीं? इन दिनों सब पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशन तथा रंग-संस्थाओं, विश्वविद्यालयों पर गुस्सा आ रहा है। आज तक समझते रहे हैं कि लेखक के शुल्क और रॉयल्टीज़ इनके निर्णय पर हैं। ऐसी की तैसी इनकी! हम लिखना छोड़ देंगे लेकिन निर्णय इनका रहे, यह स्थिति स्वीकार नहीं करेंगे।" इसी पत्र के अंत में वे लिखते हैं–" बैनेट कोलमैन एंड कंपनी फिलहाल या तो मेरी हर प्रकाशित रचना पर कम से कम 250 रुपया पारिश्रमित देगी या कुछ भी नहीं। इस स्थिति में किसी तरह की रद्दोबदल स्वीकार करने को कहकर मुझे बदलने के लिए मजबूर करोगे, तब फिर कैसे कह सकोगे 'तुम्हारे मुआफ़िक गुस्सा आता है ?'

प्यार के साथ तुम्हारा

राकेश "

इसी तरह का एक जवाबी पत्र वे ज्ञानपीठ के लक्ष्मीचंद्र जैन को भी लिखते हैं। श्री जैन द्वारा भेजे गए पत्र में 'अनुबंध पत्र की शर्तों' के ज़िक्र को लेकर मोहन राकेश बहुत क्षुब्ध हुए। उस पत्र के जवाब में लिखे गए पत्र में उन्होंने ज्ञानपीठ और उनके बीच हुए रुपयों के लेनदेन और अनुबंध की शर्तों को लेकर बहुत सी बातें स्पष्ट कीं। लेकिन व्यक्तिगत संबंधों को वे सर्वोपरि मानते थे। वे पत्र में लिखते हैं– "हम लोगों के व्यक्तिगत सम्बंध इस तरह के मतभेदों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।"

समय के साथ मोहन राकेश की डायरी की भाषा और कथ्य दोनों बदलते गए हैं। यह स्वाभाविक भी है। डायरी के आरंभिक वर्षों में प्रेम को लेकर जो बेचैनियाँ नज़र आती हैं वे धीरे-धीरे गायब हो जाती हैं। जालंधर छोड़ देने के बाद वे दिखाई नहीं देतीं। हालाँकि उनके जाने का मुख्य कारण अनीता जी से उनका विवाह रहा है, ऐसा माना जा सकता है। अपने काम न कर पाने को लेकर वे जिस तरह संघर्षरत थे वह भी धीरे-धीरे ख़त्म हो जाता है। जालंधर के दिनों में वे अपने दोस्तों से भी बहुत परेशान रहते थे। उन्हें बार-बार महसूस होता था कि उनके मित्र उनका बहुत समय बरबाद कर देते हैं। समय को ठीक से इस्तेमाल न करने के कारण भी वे परेशान रहते थे। लेकिन बाद की डायरी में दोस्तों से मिलने, कॉफ़ी हाउस और रेस्टोरेंट्स के चक्कर लगाते रहने के बाद भी वह झल्लाहट और बेचैनी उनकी डायरी में दिखाई नहीं देती। उम्र बढ़ने के साथ व्यक्तित्व जिस स्थायित्व की ओर बढ़ता है वह मोहन राकेश के व्यक्तित्व और भाषा दोनों में दिखाई देता है। लेकिन इसी दौरान डायरी टूटती भी रही है। अंतराल बढ़ते रहे हैं और वर्णन कुछ संक्षिप्त होते गए हैं। मोहन राकेश की इस डायरी से तत्कालीन सामाजिक संबंधों के ताने-बाने को भी देखा जा सकता है। समझा जा सकता है कि संपर्क के साधनों की अल्पता में भी लोग एक-दूसरे से किस तरह जुड़े रहते थे। मित्रता, प्रेम, परिवार आदि कितने घनिष्ठ थे। समय के साथ उनके बदलते जाने को भी देखा जा सकता है। यह डायरी अपने आप में अतीत के बहुत से पन्नों को खोल देती है।

डायरी लेखक और पाठक को बहुत क़रीब ले आती है। पाठक लेखक के जीवन में शामिल होता हुआ महसूस करता है। मोहन राकेश की डायरी पढ़कर भी इसी तरह का अनुभव प्राप्त होता है। इसे पढ़ने के बाद वे कोई दूर के रचनाकार नहीं रह जाते। वे पाठक के समक्ष एक व्यक्ति की तरह उभरते हैं जिसकी अपनी चिंताएं व कमज़ोरियाँ हैं। जो प्रसन्न भी होता है और खीझता भी है। जिसका जीवन केवल पढ़ने-लिखने से नहीं बना, वह भी संबंधों के धागों में उलझा हुआ है। मोहन राकेश की डायरी उनके जीवन के बहुत से अपरिचित क्षणों को पाठक के समक्ष लाती है। बेशक उनके जीवन का बहुत हिस्सा इस डायरी का अंश नहीं बन पाया लेकिन जितना यह है, उतना मोहन राकेश को देखने-जानने के लिए काफ़ी है।

देवेश
युवा समीक्षक
सम्पर्क : 3752 गली राम नाथ पटवा, पहाड़ गंज
नई दिल्ली 110055
मो. 8506050600
ईमेल: devesh95.du@gmail.com

बालमन के झरोखे से मोहन राकेश

माधवी कुमार

देश की आज़ादी के आस-पास बच्चों के लिए लिखी गई मोहन राकेश की कहानी का एक पात्र किसी वैज्ञानिक द्वारा बनाई गई मानव मूल्यों व संवेदना बोध से रहित उस भयावह दुनिया का सुनकर सिहर उठता है जहां केवल मशीनी आदमी थे। जो सामान्य इंसान से सौ गुना ज़्यादा सोच सकते थे। उस दुनिया में न रिश्तों के लिए कोई जगह थी और न ही बच्चों के प्रति प्यार-दुलार के लिए। बल्कि बच्चों का नामोनिशान भी उस दुनिया में नहीं था। सांस लेने का वहाँ कोई अर्थ न था और हर आदमी हर वक्त सिर्फ और सिर्फ काम करता रहता था।

आज 'कृत्रिम बुद्धिमता' (ए. आई.) के जन्म के इस युग में चाहे मनुष्य इसी प्रकार की कुछ कल्पनाओं को जीवन प्रदान करने में जुटा हो पर मोहन राकेश की कहानी के पात्र ने उस दुनिया के विचार से भी दूर भाग जाना चाहा था, ''तुम्हारी दुनिया नहीं चलेगी ''। उसने (माहीगीर ने) भागते हुए कहा- ''जिस दुनिया में बच्चे नहीं होंगे, दुलार-प्यार नहीं होगा वह दुनिया कभी नहीं चलेगी, एक दिन भी नहीं चलेगी। ''

ऐसे स्वप्नद्रष्टा, भविष्य द्रष्टा थे मोहन राकेश वो भावी पीढ़ी को एक यांत्रिक, स्वकेन्द्रित, संवेदनहीन दुनिया की थाती नहीं सौंपना चाहते थे। कहीं-न-कहीं मोहन राकेश का चिंतनशील, सचेतन मानस ऐसे भावी समाज की पगध्वनियों को महसूस कर रहा था और संभवतः इस आहट को बच्चों तक पहुँचा कर उन्हें सजग करना चाहता था। हिंदी साहित्य की विविध विधाओं के चितेरे मोहन राकेश की लेखनी से शायद इसीलिए बाल साहित्य भी अछूता न रह सका। उनके विस्तृत साहित्य की भागीरथी में बाल साहित्य की एक छोटी-सी लहर भी समाहित है।

बाल साहित्य की अनेक परिभाषाएं गढ़ी गई हैं और समय-समय पर आज भी गढ़ी जा रही हैं। मूलतः बाल साहित्य बच्चे के चतुर्दिक जीवन से संबद्ध होता है। बाल साहित्य में मनोरंजन के साथ बच्चों के सामाजिक विकास की अनेक सरणियां भी खुलती हैं। बाल साहित्य की अनेक विधाओं में कहानियां आज भी शीर्ष पर हैं जो बच्चों और उसके अनुभव संसार के बीच एक सार्थक संवाद प्रस्तुत करती हैं और उनके मन की सांकल को खटखटाती हैं।

मोहन राकेश की बाल-कहानियों की एक पुस्तक 'बिना हाड़-मांस के आदमी', पढ़ना एक अत्यन्त सुखद साथ ही आश्चर्यमिश्रित अनुभव रहा। ऐसा नहीं है कि तत्कालीन मूर्धन्य साहित्यकारों ने बाल-साहित्य की रचना नहीं की थी। हिंदी में प्रेमचंद, रामधारी सिंह 'दिनकर', मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान आदि अनेक साहित्यकार उस कालखंड में बाल साहित्य की रचना कर रहे थे। पर हमने विद्यार्थी काल से ही मोहन राकेश को कभी बाल साहित्य से नहीं जोड़ा था, न ही बाल साहित्य से जुड़े आलेखों में उनका उल्लेख मिला था। पुस्तक के आरम्भ के अनुसार ''मोहन राकेश (1925-1972) ने ज़िन्दगी में बाल पाठकों के लिए यहीं चार कहानियाँ विशेष रूप से लिखीं..... इन्हें राकेश की दूसरी बरसी पर प्रकाशित किया। ''

इस संग्रह में चार कहानियाँ हैं– (1) काँटेदार आदमी, (2) बिना हाड़ माँस के आदमी, (3) सुनहरा मुर्गा, काला बंदर और लाल अमरूद का पेड़ तथा (4) गिरगिट का सपना। संग्रह की ये चारों कहानियां पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न हैं। अलग रंग, अलग आस्वाद और अलग मिज़ाज, पर एक सूत्र है जो सभी कहानियों को जोड़ता है और वह है मोहन राकेश की संवदेना, उनकी जीवन दृष्टि तथा समय से कहीं आगे की सोच और संवेदनहीन समाज के प्रति उनका आक्रोश।

संग्रह की पहली कहानी 'काँटेदार आदमी' बिल्कुल लीक से हट कर हैं। मोहन राकेश के प्रतीक अक्सर चौंका देते हैं। इसे पढ़ते हुए ऐसा लगा कि इस कहानी का नायक हैं, कांटा यानी हमारा अंतरंग पहलू अन्तर्मन, अन्तरजगत या 'कॉनशन्स' (Conscience) जो कहीं न कहीं अक्सर हमें अपनी उपस्थिति का एहसास दिलाता रहता है। कुछ भी गलत करने पर अन्तर्मन में कोई कांटा सा चुभता ज़रूर है। अन्तर्मन के इसी कांटे को नेपथ्य से मंच पर लाकर मोहन राकेश ने आदमी के बाह्य व्यक्तित्व और अन्तर्मन के द्वन्द्व को मुखर कर दिया है। कहानी के पात्र 'आदमी'

के शरीर पर अक्सर निकल आने वाले कांटों के माध्यम से उन्होंने भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, चापलूसी जैसी बुराइयों पर मनोरंजक ढंग से करारा प्रहार किया है–

''एक आदमी था। आम आदमियों जैसा। उसी तरह रहता था। खाता-पीता और हँसता था। एक दिन उसने देखा कि उसकी दायीं हथेली पर एक काँटा उग आया था। ... वह इस मुसीबत से छुटकारे का उपाय सोच रहा था। तभी उसने पाया कि एक काँटा उसकी बायीं हथेली में भी निकल आया था। .... उसी दिन शाम एक बड़ी बात हो गई। उसने देखा कि काँटा उसके माथे में भी निकल आया है। ..... एक रात जब उसकी आँखें लगीं तो उसने एक सपना देखा। देखा कि वह एक नहीं दो आदमी है। ..... एक, जिसके माथे और हथेलियों पर काँटे निकले हैं। दूसरा, पहले जैसा अर्थात् जिसके काँटे नहीं हैं। उसकी समझ में नहीं आया कि असली 'वह' कौन है। .... दायीं हथेली में चुनचुनाहट हुई। उस समय एक आदमी से रिश्वत लेने को हाथ बढ़या था.....।''

अनेक रोचक घटनाक्रमों से गुज़रते हुए अन्ततः उसके काँटे झड़ कर गिरने लगते हैं। कारण ? यह कहानी 'ओपन एंडेड' है, बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे अन्त को पाठक के विवेक पर छोड़ देती है। सम्भवतः सही मूल्यों और उचित मनोवृत्तियों के पनपने हेतु ज़मीन तैयार करने के लिए।

काल की सीमाओं को लांघती संग्रह की दूसरी कहानी 'बिना हाड़-माँस के आदमी' मोहन राकेश की भविष्योन्मुखी दृष्टि का परिचय देती है। यह अत्यन्त रोचक कहानी मनुष्य के धीरे-धीरे मशीन रूप में परिवर्तित होते जाने की पृष्ठभूमि-सी रचती है। आज के मानव की महानगरीय दिनचर्या सचमुच इतनी यान्त्रिक होती जा रही है कि मानवीय संवेदनाओं के सिरे पीछे छूटते जा रहे हैं। कहानी एक समाचार से शुरू होती है।

''एक देश के वैज्ञानिकों ने ऐसे मशीनी आदमी का आविष्कार कर लिया है जो आम आदमी से सौ गुना ज़्यादा सोच सकता है और सौगुना ज़्यादा तेज़ी से अपने सोचे के अनुसार काम कर सकता है। इस समाचार से पैदा हुई हलचल अभी समाप्त नहीं हुई थी कि दूसरा समाचार आया। वह यह कि मशीनी विचारक रातों-रात अपने कमरे की खिड़की तोड़ कर और न जाने कैसे चौथी मंज़िल से कूद कर लापता हो गया।'' अब शुरू होती है उस वैज्ञानिक की तलाश और वह कहां गया होगा, इस बात की अटकलों का सिलसिला। कई महीनों बाद वह वैज्ञानिक सुदूर निर्जन टापू में एक माहीगीर (मछुआरा) द्वारा खोजा जाता है। वहाँ वह वैज्ञानिक आदमियों के ऐसे पुतले तैयार कर रहा है जो बिना भूख, प्यास, नींद के हर वक्त काम करते रहते हैं।

''खाना-पीना, ठिठुरना, सांस लेना ये सब पुरानी बातें हैं जिन्हें यहाँ कोई नहीं जानता। ... तब दुनिया में न आज की तरह रोना-धोना रहेगा न चीखना-चिल्लाना।'' माहीगीर ने उस तरह की दुनिया की कल्पना की तो वह सिहर उठा।

''तुम्हारे इन आदमियों के बच्चे तो नहीं होंगे ?'' उसने पूछा।

''नहीं ! ..... इन्हें बच्चों-अच्चों की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। दुलार-प्यार जैसी चीज़ों के लिए इनके पास न वक्त होगा न ही उनसे इनका कोई वास्ता रहेगा। ये बस जियेंगे और काम करेंगें, काम करेंगे और जियेंगे।''

आदमी की नीरस दिनचर्या से उपजती ऊब और उकताहट की ओर इशारा करती है यह कहानी। इसमें मस्ती, अल्हड़पन, बेफ़िक्री, आपसी मेलजोल, दोस्ती, दूर तक निभाए जाने वाले रिश्तों के खो जाने का डर है।

इसकी बुनावट में दर्द, कड़वाहट, परेशानी, ममता जैसे संवेगों से परे एक ऐसी आभासी दुनिया बुनी गई है जिस ओर आधुनिक दिनचर्या उन्मुख हो रही है। भौतिक आराम, आसायश, सुखों की अजगरी भूख जो सभी मानवीय संवेदनाओं को लील लेने को मुँह बाए खड़ी हैं। मोहन राकेश ऐसी दुनिया की भयावहता को दिखा कर एक तरह से भावी पीढ़ी को आगाह करते हुए दिखाई देते हैं। वे आने वाले समय की आहट को महसूस कर रहे थे जहां आदमी अपनी जड़ों से उखड़ कर एक बेगानी असंवेदनशील परिस्थिति की ओर धकेला जा रहा है।

मोहन राकेश का समय वह समय था जब ब्रिटिश सत्ता भारतीय शिक्षा पद्धति में भी सेंध लगा चुकी थी। लगभग एक शतक पहले वर्ष 1835 में 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' की 'एग्ज़ेक्यूटिव काउंसिल' के सदस्य लार्ड मैकाले प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति को अवैज्ञानिक और अतार्किक करार देते हुए एक ऐसी शिक्षा पद्धति की नींव रख रहे थे जो उनके हितों की पूर्ति कर सके– ''जिसका उद्देश्य ऐसे लोगों का वर्ग तैयार करना था जो रक्त और रंग में भारतीय हों, लेकिन स्वाद, विचार, नैतिकता और बुद्धि में ब्रिटिश हों।'' यह ऐसी शिक्षा व्यवस्था थी जो भारतीय जीवन पद्धति पर आधारित न होकर विद्यार्थियों को मात्र अनुपालक बना देने वाली थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा गांधी जी ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई थी। गांधी जी ने कहा था कि मैकाले ने शिक्षा की

जो नींव रखी है, उसने हमें गुलाम बना दिया है। निश्चित रूप से कहीं न कहीं मोहन राकेश अपनी रचनात्मक साहित्यिक यात्रा के दौरान इस उपनिवेशवादी सोच से नकारात्मक रूप से प्रभावित हुए होंगे। इस कहानी के माध्यम से वे व्यंग्यात्मक रूप से इस सोच के ख़िलाफ़ बच्चों को सचेत करने का प्रयास करते नज़र आते हैं।

संकलन की तीसरी कहानी है 'सुनहरा मुर्गा, काला बंदर और लाल अमरूद का पेड़ '। कहानी का मुख्य कथ्य है दोस्ती। पर इस दोस्ती की परतें खुल कर स्वार्थ की नींव पर जा टिकती हैं और दोस्ती बिखर जाती हैं। आम आदमी की दोस्ती की भी तो प्राय: यही फ़ितरत होती है। सतही छिछले रिश्ते अन्ततः विनाश का कारण भी बन सकते हैं।

कहानी में सुनहरा मुर्गा, काला बन्दर और लाल अमरूद का पेड़ तीनों ही पात्र अपने-आप में विशिष्ट हैं। उन्हें पाने की चाह में आस-पास के लोग लगे रहते। पर इन तीन मित्रों ने ऐसी योजनाएं बना रखी थीं कि कोई उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाता था। जब कोई उन्हें पकड़ने आता ये तीनों नई-नई युक्तियों से एक दूसरे का बचाव करते। कहानी मनोरंजक घटनाओं से भरपूर है। जब कोई सुनहरे मुर्गे को पकड़ने जाता तो पेड़ उसे लुभाने के लिए अपने खुशबूदार लाल अमरूद टपका देता। वह अमरूद चखने में मशगूल हो जाता तो बंदर मुर्गे को अपनी पीठ पर बैठा कर भाग जाता और पकड़ने वाले का थैला किसी ऊँची शाख पर लटका देता। जब चिड़िया घर से लोग अनोखे काले बंदर को पकड़ने आते तो लाल अमरूद का पेड़ उसे अपनी घनी पत्तियों में छुपा लेता। इसी तरह जब बच्चे अमरूद तोड़ने आते तो बंदर उनके इर्द-गिर्द चक्कर काट कर उन्हें डराता।

एक दिन मूसलाधार वर्षा हुई, ओले पड़े, ये तीनों मित्र अपने ही बचाव में ऐसे लगे कि एक दूसरे के काम न आ पाए। अब जो होना था वही हुआ। ऐसी फूट पड़ी कि जब सुनहरे मुर्गे को पकड़ने कसाई आया तो पेड़ ने अमरूद नहीं टपकाए और कहा, ''अब पता चलेगा.... बड़ा मुर्गा बना फिरता था। ''

अगले रोज़ बंदर को पकड़ने चिड़िया घर के लोग आए तो पेड़ ने टहनी टूट जाने दी और काला बंदर जा फंसा जाल में। जब लाल अमरूद का पेड़ कटने लगा तो उसे बचाने के लिए भी कोई न था। और इस दोस्ती की परिणति थी –

''एक गिलहरी वहीं रहती थी। मुर्गे, बंदर और पेड़ की आपसी योजना पर चकित हुआ करती थी। उसने मुर्गे और बंदर के बाद पेड़ को इस हालत में जाते देखा, तो लंबी उसाँस के साथ मन में बोली– जा रहा है यह भी लोगों का चूल्हा जलाने। बड़े दोस्त बने फिरते थे।'' कहानी के मूल में ऐसा स्वार्थ है जिसके कारण व्यक्ति अपने अस्तित्व से ही हाथ धो बैठता है।

संकलन की चौथी और अंतिम कहानी है 'गिरगिट का सपना'। इस कहानी को पढ़ते हुए संस्कृत की एक प्राचीन कथा 'पुनर्मूषको भव' सहसा याद आ गई। 'पुनर्मूषको भव' का पुनर्कथन कई रूपों में, कई भाषाओं में हुआ है। यदि हम संस्कृत कथा को इसका आधार मान भी लें तो भी मुख्य पात्र के रूप में गिरगिट की मौलिक परिकल्पना ने इसका आस्वाद ही बदल दिया है।

मानव जो कभी अपनी स्थितियों, परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं रह पाता, जीवन पर्यन्त एक अप्राप्य की तलाश में संतप्त रहता है। पल-पल रंग बदलने वाला जीव गिरगिट सीधे मानव के इसी अस्थिर चित्त का द्योतक है। मोहन राकेश प्रायः मानव के अन्तर्मन की गहराइयों में झाँकने का प्रयास करते हैं। यह कहानी उसी प्रयास एक प्रतीकात्मक विश्लेषण है। गिरगिट इस कहानी को एक तरह की 'क्रेडिबिलिटी' देता है। यह मानव जीवन की विडम्बना ही है कि वह कभी अपने वर्तमान से संतुष्ट नहीं रहता। यही बेचैनी है हमारे गिरगट की जो गिरगिट से साँप, साँप से नेवला, नेवले से पेड़ की टहनी, फिर कौवा और पुनः कौवे से गिरगिट के रूप में वापस लौटता है। 'फन्तासी' पर आधारित यह कथा कुछ यों शुरू होती है –

''एक गिरगिट था। अच्छा, मोटा-ताज़ा। काफी हरे जंगल में रहता था। उसका ख़याल था उसे गिरगिट की जगह कुछ और होना चाहिए था। यह भी क्या कि अपनी कोई पहचान ही नहीं। कभी कच्चे भुट्टे की तरह पीले, रात को सोए तो भुने शकरकन्द की तरह काले। हर दो घंटे में खुद अपने लिए ही अजनबी....''

बच्चों के कल्पना जगत में मानवीय व्यवहार और संवेदनाओं से युक्त पशु-पक्षी अवास्तविक नहीं होते। इनके माध्यम से अनेक सूक्ष्म विचारों का संप्रेषण सहज ही हो जाता है। 'गिरगिट का सपना' इन्हीं मानवीय गुण-दोषों का विवेचन करती है और उसे सहज रूप से बाल पाठकों तक पहुंचाती है।

मोहन राकेश का यह बाल कहानी संग्रह दस वर्ष के बच्चों से लेकर पंद्रह वर्ष के किशोरों के लिए सर्वथा उपयुक्त और रुचिकर है। किसी भी रचनात्मक प्रक्रिया की प्राणवायु होती है भाषा। इन सभी कहानियों की भाषा सहज, स्वाभाविक और सरल है। ये बाल-पाठकों से सीधा संवाद करते हुए प्रतीत होती है। छोटे - छोटे वाक्य हैं। कहीं शब्दों का चमत्कार, वाक्य संरचना का आडम्बर कुछ भी नहीं। भाषा नितान्त अपनी सी, बात करती हुई आगे बढ़ती

है। पर कुछ अभिव्यक्तियाँ जैसे स्वयं अपने को अजनबी लगना, हथेलियों में चुनचुनाहट होना आदि मोहन राकेश की लेखनी की झलक दे ही जाती हैं। बच्चों की भाषा का कोई बना-बनाया नुस्खा तो होता नहीं है। इन कहानियों में भाषा की जीवन्तता, निरन्तरता, लय और स्फूर्ति को मोहन राकेश ने कहीं छूटने नहीं दिया है। यही विशेषता इन कहानियों को अत्यन्त पठनीय बना देती है। देखिए एक बानगी–

''एक बार जो वह ज़ोर से उछला तो पेड़ की टहनी पर टंग गया। टहनी का काँटा जिस्म में ऐसे गड़ गया कि न अब उछलते बने, न नीचे आते.... इससे तो अच्छा था कि पेड़ की टहनी बन गया होता। तब न रेंगने की ज़रूरत होती, न उछलने-कूदने की। बस अपनी जगह उगे हैं और आराम से हवा में हिल रहे हैं। नींद का एक और झोंका आया और उसने पाया कि सचमुच वह नेवला नहीं पेड़ की टहनी बन गया। उसका मन मस्ती से भर गया।''

अगर देखा जाए तो अपने समय की सामाजिक स्थितियों, विचारधाराओं और सांस्कृतिक परिपेक्ष्य का किसी न किसी रूप में बाल साहित्य भी साक्षी होता है। मोहन राकेश का समय बाल साहित्य के लिए भी परम्परागत विचारों और प्रगतिशील धारणाओं का 'सन्धिकाल' था। सन्धिकाल में जब भी साहित्य जगत में हलचल होती है तो छोटी से छोटी लहर भी आन्दोलित हो उठती है। कहानियों के माध्यम से भी समाज और मानव-मन की गहराइयां मुखर होती हैं। तब बाल कहानियां भी लोक और नीति की चौखट से बाहर निकल कर वर्तमान के सन्दर्भों से जुड़ने की अकुलाहट महसूस कर रही थीं। बाल साहित्य भी आधुनिक चेतना की आहटों के साथ कदम मिला कर चलने का प्रयास कर रहा था। ये साहित्य जीवन की जटिलताओं को समझने और उस द्वन्द्व का सामना कर पाने के लिए बच्चों को तैयार कर रहा था। वर्ष 1950-60 में आरम्भ की गई अनेक उत्कृष्ट हिंदी की बाल पत्रिकाएं जैसे पराग, मनमोहन, बालभारती आदि इस ओर सार्थक प्रयास कर रही थीं।

कहानी संग्रह 'बिना हाड़-माँस के आदमी' की चारों कहानियों में समय, समाज और मानव-मनोवृत्तियां बख़ूबी उपस्थित हैं। इनमें मानवता के प्रति गहरी आस्था और यांत्रिक, संवेदनहीन समाज के प्रति आक्रोश भी है। मन में उठते सवालों के उत्तर कहानियों में ही पिरोए गए हैं। यह संग्रह अभिव्यक्ति और मन के सीमान्तों को टटोलने वाली मोहन राकेश की रचनात्मक कलम की ताकत का उदाहरण है।

माधवी कुमार
एसोसिएट प्रोफ़ेसर (सेवा निवृत्त)
एन.सी.ई.आर.टी, नई दिल्ली
सम्पर्क: फ्लैट न. 401, टॉवर 8, पार्श्वनाथ सृष्टि
सेक्टर 93 ए, नोएडा
मो. 9312130476
ईमेल : mrvivekkumar@yahoo.co.in

'डायलाग़्ज़ इन ड्रीम्ज़'– आदमी बाहर तो अपने को जस्टीफ़ाई करता ही है, सपनों में भी इस प्रक्रिया से न बच पाए– यह कितनी बड़ी ज़हमत है। सुबह उठने से पहले दिमाग़ में जो डायलाग चलते हैं, उनसे ख़ासी उलझन होती है। हर करवट में एक न एक प्रवाद, एक न एक बहस। उठने तक स्थितियाँ और डायलाग तो ग़ायब हो जाते हैं, रह जाता है एक डिप्रेशन– उन सब प्रभावों का जिनसे कि शायद एक जद्दोजहद चलती है।

मोहन राकेश
मोहन राकेश की डायरी
9 अगस्त 1964

बातों के दरीचे

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में सम्यक समीकरण का बिन्दु तलाश रहे थे राकेश : जयदेव तनेजा

कालजयी हिन्दी नाटककार मोहन राकेश के नाट्य साहित्य और उनके जीवन पर सुप्रसिद्ध रंग समीक्षक डॉ. जयदेव तनेजा (ज.त.) ने गहरी विश्लेषणात्मक क्षमता के साथ कार्य किया है। प्रस्तुत है राकेश की जन्म शताब्दी के असवर पर डॉ. तनेजा से मनोज मोहन (म.मो.) की विशेष बातचीत।

मनोज मोहन

म. मो. : आपने कहीं कहा था– आप राकेश से कभी नहीं मिले। आप दिल्ली में थे, फिर ये कैसे सम्भव है कि उनसे आपकी मुलाकाल ही न हुई हो ?

ज. त. : हाँ, ये बात सच है, लेकिन उनके आसपास काफ़ी मौकों पर रहा हूँ। सन् 1963-64 में हमने उन्हें अपने कॉलेज (हंसराज कॉलेज) में 'नयी कहानी' पर बोलने के लिए बुलाया था। उनसे सवाल भी किए थे, लेकिन अलग से बात नहीं की थी। उसके बाद मालवीय नगर में सुप्रसिद्ध कवि और रेडियो कलाकार देवराज दिनेश के जन्मदिन पर भी वे हमारे नियंत्रण पर अनीता जी के साथ आए थे। मैं ही उस संस्था का अध्यक्ष था, किन्तु अपने संकोची स्वभाव के कारण व्यक्तिगत रूप से उनसे बात नहीं की।

म. मो. : राकेश के साहित्य से पहला साक्षात्कार आपका कब और कैसे हुआ ?

ज. त.: थियेटर का शौक मुझे बचपन से था। आठवीं कक्षा में मैंने प्रेमचंद की कहानी 'पंच परमेश्वर' में अलगू चौधरी की भूमिका निभाई थी। हमारे टीचर श्रीकृष्ण खन्ना आगरा 'इप्टा' के सचिव थे। मैं भी 'इप्टा' से जुड़ गया। उसी दौरान कभी चर्चा में मोहन राकेश का नाम सुना था। सन् 1960-61 के दौरान 'आषाद का दिन' पढ़ने के बाद मैंने उनकी कहानियाँ भी पढ़ी थीं। कहानियाँ अच्छी भी लगी थीं, लेकिन 'आषाढ़ का एक दिन' का जो इम्पेक्ट मुझ पर था, वो बहुत गहरा था। नाटककार के रूप में मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। फिर मैं आगरा से दिल्ली आ गया। उसके बाद जो कुछ राकेश के बारे में सुनने-पढ़ने को मिलता, उससे उनकी एक अविश्वसनीय-से व्यक्ति की इमेज दिमाग में आती थी। मैं अक्सर सोचता था कि एक व्यक्ति ऐसा कैसे हो सकता है ! कैसे जी सकता है ? फ्रीलांसर है और डेढ़-डेढ़ महीना श्रीनगर में जाकर शिकारे में रह आता है, हर साल चला जाता है– ये एक तरह से रहस्य जैसा ही लगता था! यही नहीं... हमारे कॉलेज में रीडर का इंटरव्यू होना था... हालाँकि मैं उसमें केंडिडेट नहीं था। हमने देखा, मोहन राकेश टैक्सी से आये, टैक्सी खड़ी रही। यूनिवर्सिटी के जो हेड थे, उन्हें भी आना था, राकेश ने पंद्रह मिनट इंतज़ार किया। उसके बाद उन्होंने कहा, 'शुरू कीजिए इंटरव्यू', तो प्रिंसिपल ने कहा कि, 'सर वो हेड तो आ जाएँ। ' वे बोले, 'मैं आधे घंटे से ज़्यादा नहीं रुक सकता। ' फिर उन्होंने इंटरव्यू किया, सिगनेचर किए, टैक्सी में बैठे और चले गए। उन्होंने कहा था कि ये हैड की ज़िम्मेदारी है कि वो वक्त पर आएँ, मुझे जब टाइम दिया है तो...ये राकेश की एक भंगिमा थी। वे अपने आत्मसम्मान के लिए कहीं भी लड़ जाते थे। उस समय जो कुछ पढ़ने-सुनने में आता था, उससे ऐसा लगता था कि उनके दोस्तों और दुश्मनों ने उनके बारे में एक मिथ-सा बना दिया है। उनके जीवन के बारे में जानने की जो जिज्ञासा लोगों में थी वो बड़ी ज़बरदस्त थी।

म. मो. : राकेश में ऐसा क्या विशेष था कि आपके मन पर उनका इतना गहरा प्रभाव पड़ा ?

ज. त. : मेरे व्यक्तिगत जीवन में भी कुछ-कुछ ऐसा था यानी न कुछ होते हुए भी अपने आत्मसम्मान के लिए लड़ जाने की भावना थी। इस कारण उनकी ये जो भावना थी वो मुझे बहुत आकर्षित करती थी। मैं कहूँगा कि उनका जो मिथ था, उसको समझने की एक तीव्र आकांक्षा मेरे मन में पैदा हो गई थी... इस व्यक्ति को कैसे समझा जाए ? बिना आर्थिक सुख-सुविधाओं और सम्पन्नता के कैसे संभव है ऐसे जीना...बिना किसी नौकरी के...मैंने भी

स्वयं पाँच साल तक बेरोज़गारी झेली थी । मैं कभी कल्पना नहीं कर सकता था कि इतने कठिन परिश्रम के बाद मुश्किल से मिली नौकरी को मैं अपनी इच्छा से छोड़ दूँ ! और वो (मोहन राकेश) बंदा है कि ज़रा-सी बात पर रिज़ाइन कर देता है, और कहता है मेरे वश का नहीं है कि रोज़ टाई बाँध कर दफ़्तर में बैठ जाऊँ ! इस कारण से मेरी जिज्ञासा उनके प्रति बढ़ी... और जब 'लहरों के राजहंस' पर मैंने काम करना शुरू किया, तो देखा उस नाटक का एक-एक शब्द, कॉमा, फ़ुलस्टाप, हर चीज़... पर्फ़ेक्ट थी।

म. मो. : आप उस समय तक दिल्ली में उनके नाटकों के प्रदर्शन देख चुके थे, और मोहन राकेश को भी, इस पर भी रोशनी डालें।

ज. त. : हाँ-हाँ ! पीएच.डी. तो मैंने काफ़ी बाद में किया। पहली बार जब राकेश सामने आए, उनको देखा, तो मैं एम.ए. प्रीवियस में था। मैंने एम. लिट. किया... 1968 से 70 तक। उस समय तक राकेश के तीनों नाटक आ चुके थे। 1969 में 'आधे-अधूरे' आया ही था। उन तीनों को मैंने कवर किया था। उसी वक्त मेरी इच्छा थी कि मैं इनके नाटकों के प्रदर्शनों पर काम करूँ, लेकिन डॉक्टर नगेंद्र तैयार नहीं हुए। वो कहने लगे कि नहीं, एक तो नीतिगत रूप से हम किसी जीवित लेखक पर शोध नहीं करवाते, दूसरा यह कि नाटक के प्रोडक्शन्स पर तो हो नहीं सकता। डॉ. निर्मला जैन फिर मेरे पक्ष में खड़ी हुई थीं। जब वो हेड बनीं तो उन्होंने कहा कि तुम्हारी बहुत समय से इच्छा थी तो तुम उसी विषय पर काम करो ! तब मैंने राकेश के नाटकों के प्रोडक्शन पर पीएच.डी. किया। 'हिंदी रंगान्दोलन में मोहन राकेश के नाटकों के प्रदर्शनों का योगदान' विषय था और उसके लिए व्यक्तिगत रूप से मैंने कई इंटरव्यू किये लोगों से ताकि प्रामाणित हो सके। कलकत्ता गया, पटना गया... जहाँ-जहाँ उनके नाटक हुए थे... उन लोगों से जाकर मिला, प्रोडक्शन स्क्रिप्ट, फ़ोटोग्राफ़, निर्देशकों के नोट्स, स्कैचज़ आदि... जो भी सामग्री थी, देखी। ऑडियोटोरियम देखे,.. अभिनेताओं, समीक्षकों, दर्शकों से बातचीत की। अपनी तरफ़ से पूरी पुख़्ता कोशिश की कि अगर किसी नाट्य पत्रिका में कोई भी रिव्यू या लेख छपा है तो देखूँ। वो अख़बार से ज़्यादा प्रामाणिक होता है क्योंकि अख़बार में सिर्फ़ रिपोर्टिंग होती है, समीक्षा नहीं होती।

म. मो. : किसी तथ्य को जुटाने में आपको कोई परेशानी हुई हो ?

ज. त. : परेशानियों का तो आप अंदाज़ा भी नहीं लगा सकते। देखिए कि कैसे पता लगता है ...अभी 'आधे-अधूरे' पर काम कर रहा हूँ। 'आधे-अधूरे' का गुजराती में 1991 में प्रोडक्शन हुआ था, उसको दो-तीन पुरस्कार मिले थे लेकिन उसका कोई प्रमाण कहीं नहीं है। राकेश की पत्नी तक कहती हैं कि हमें कुछ नहीं पता। लेकिन मैं उनके पीछे पड़ा रहा कि उनको पुरस्कार मिले थे तो किसी ट्राफ़ी पर डेट लिखी होगी या कुछ लिखा होगा तो उन्होंने अख़बार की एक कटिंग भेजी। डायरेक्टर की पत्नी ने उन्हें भेजी थी। उस पर वो रिव्यू गुजराती में छपा था। ये भी पता चला कि उनके (निर्देशक के) नाम से कोई संस्था है जो हर साल एक व्यक्ति को पुरस्कृत करती है। इससे ये पता लगता है कि उनका अपना स्टेचर क्या रहा होगा ! ये अंदाज़ा लग गया तो मैंने अपने गुजराती दोस्त को वो रिव्यू भेजा, कहा कि उसको हिंदी में करके भेजो। लेकिन सबसे बड़ी बात ये थी कि उस अख़बार की कतरन पर जो डेट थी, वो मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी, वो पता लग गई मुझे। तो किस-किस सूत्र से एक-एक तथ्य को निकालना पड़ता है... लाइब्रेरी में बैठ कर पीएच.डी. करना और ऐसे विषय पर काम करना– ये दोनों अलग-अलग तरह के काम हैं, और मैं नहीं मानता कि इस काम में ज़रा भी कोई आसानी है। बल्कि मुश्किल काम है ये अगर जेनुइनली आप करना चाहते हैं, ईमानदारी से... तो एक ही प्रोडक्शन के बारे में कितने सोर्सेस से आपको पता लगाना पड़ता है !

म. मो. : कथा साहित्य के बाद राकेश नाटक के क्षेत्र में अचानक कैसे आ गए ?

ज. त. : पहली बात तो ये कि राकेश जब एम.ए. कर रहे थे, तो वहाँ उन्होंने संस्कृत के तीन नाटक किये थे। दो में अभिनय किया था और दो नाटकों का निर्देशन किया था। उसके बाद उन्होंने एकांकी लिखे। उनकी सबसे पहली रचना जो थी वह पिता की मृत्यु पर थी। मृत्यु को लेकर वह उनका एकांकी था– 'समझ का फेर'– नाम से। हालाँकि पहले संस्कृत में कविता लिखते थे। तो पहली बात तो ये कि ये सब अचानक नहीं हुआ था। थियेटर का उनका एक्सपीरियेंस था... फिर उन्होंने पहली नौकरी फ़िल्म-कंपनी में की थी। उसके लिए स्क्रिप्ट लिखते थे।

म. मो. : 'आषाढ़ का एक दिन' क्या मूलतः रेडियो नाटक था ?

ज. त. : नहीं, 'आषाढ़ का एक दिन' उनका पहला पूर्णकालिक मंचीय नाटक था। मैंने इस नाटक की राकेश की व्यक्तिगत प्रति देखी है। उस पर उन्होंने उसका रेडियो रूपांतरण करके संशोधन

किये हुए थे... तो उससे ये धारणा ग़लत साबित होती है कि बेसिकली वो रेडियो के लिए लिखा गया था। सच यह है कि यह नाटक रंगमंच के लिए ही लिखा गया था... उसका रेडियो रूपांतरण राकेश ने बाद में किया। हालाँकि बहुत नज़दीकी लोग बड़े दावे के साथ ये कहते हैं कि यह मूलतः रेडियो नाटक था... लेकिन जो प्रमाण मुझे ढूँढ़ने पर मिला वो ये कि उन्होंने अपनी प्रिंटेट कॉपी पर उसका रेडियो रूपांतरण किया था।

म. मो. : वो तो सर ऐसे भी समझ में आता है कि उस ज़माने में होता यह था कि रेडियो से पैसे मिलते थे तो लोग कोई भी चीज़...

ज. त. : पैसों की बात तो बाद में आती है। पहली बात तो यही कि उस समय न तो गंभीर रंगमंच कहीं था, न नाटक के लिए कोई पत्रिका और न कोई प्रकाशक...

म. मो. : रेडियो नाटक को लोग बहुत सीरियसली सुनते थे उस वक़्त।

ज. त. : चाहे 'कोणार्क' हो, 'अंधा युग' हो, 'आषाढ़ का एक दिन' हो... सब रेडियो से ही पहले पहल आए। लेकिन इनमें से कोई भी बेसिकली रेडियो के लिए नहीं लिखा गया था।

दूसरी बात ये कि राकेश की बड़ी इच्छा थी कि वो ख़ुद इसे प्रोड्यूस करें। डायरेक्ट करना चाहते थे लेकिन धीरे-धीरे उनकी समझ में आ गया कि नहीं! लेखन ही मेरा पहला सरोकार है और मुझे इस चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। उस ज़माने में लोग ये ढूंढ़ते थे कि कोई मंचन करने वाला मिले। उनके एक दोस्त थे रमेश पाल। शायद रेडियो में भी थे, बाद में पूना फ़िल्म इंस्टिट्यूट में भी रहे... 'लहरों के राजहंस' करना चाहते थे। ये राकेश ने कहीं लिखा है बाकायदा कि मैंने भरसक कोशिश की कि वो ये नाटक न करे... क्योंकि मुझे मालूम है कि उसकी सेंसेबिलिटी के लाइक नहीं है ये नाटक... तो कमलेश्वर से उन्होंने कहा कि उसे रोको किसी तरह से.. बुरा न लगे उसे, लेकिन वो न करे यह नाटक... तो ये बात भी राकेश में थी।

म. मो. : आप स्वयं पर पड़ने वाले 'आषाढ़ का एक दिन' के गहरे प्रभाव के बारे में कुछ कह रहे थे...

ज. त. : हाँ, मैं बहुत प्रभावित हुआ था... क्योंकि उससे पहले प्रसाद के नाटक पढ़े थे हमने, वो पढ़ने पर तो ऐसा लगता था कि जैसे पाठ्य नाटक ही हों। हमें कॉलेज में पढ़ाया गया था जिस तरीक़े से, वो तरीक़ा तो वही था कि ये रंगनिर्देश वगैरह तो फ़ालतू हैं... ये सब छोड़ दो और उसमें से वो जो व्याख्या सापेक्ष संवाद होते थे, या कोई अलंकार हो उसकी व्याख्या करा देते थे। बस... नाटक का अध्ययन हो गया। तो 'आषाढ़ का एक दिन' को पढ़कर अलग तरह से महसूस हुआ। मैं ख़ुद थियेटर से जुड़ा हुआ था। मेरे दिमाग में ये था कि संवाद हैं तो ये बोलने के लिए लिखा गया है। ये सिर्फ़ पढ़ने के लिए ही नहीं है। राकेश के नाटकों के संवाद चाहे संस्कृतनिष्ठ भाषा में हों, उनमें अटकाव नहीं आता है। एक आंतरिक लय उनकी ख़ास विशेषता है। उन संवादों को पढ़ कर जो फ़ीलिंग हुई मुझे... अलग तरह का प्रभाव था वह... जो मुझ पर बहुत गहरा था। जब मैंने पहली बार उसे मंच पर देखा... 1964 में... वो बहुत ख़राब प्रोडक्शन था...हालाँकि मोहन राकेश भी उसमें मौजूद थे, सप्रू हाउस में हुआ था। उसमें ज़िन्दा हिरण लेकर आ गए थे वो लोग और वो हाथ से छूट गया तो अजीब तमाशा बन गया था...

म. मो. : उसके निर्देशक कौन थे?

ज. त. : निर्देशक थे... प्राणनाथ तुगनैत... ये एशियन ड्रामा सोसायटी के तत्वावधान में हुआ था। ये ग़लती श्यामानंद जालान ने भी 'लहरों के राजहंस' में की– ज़िंदा हिरण को लानेवाली... तो इस नाटक यानी 'आषाढ़ का एक दिन' ने मुझे इस अर्थ में प्रभावित किया कि ये आदमी जो कहता है कि मैं कृत होने के लिए नहीं हूँ... पैसों से ख़रीदा जानेवाला लेखक नहीं हूँ तो इसकी ज़िंदगी से बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इसने मुझे मोहन राकेश को और ज़्यादा जानने का इच्छुक बनाया कि भाई ये व्यक्ति जो जीता है या जो लिखता है उसमें कहीं-न-कहीं समानता है। उस संदर्भ में जब मैंने राकेश और उनके नाटक को देखा तो मुझे ये लगा कि ये आदमी है जो सचमुच में लेखक है।

म. मो. : 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' को उन्होंने साथ-साथ लिखा, निर्णय लिया 'आषाढ़ का एक दिन' को पहले लाने का। 'लहरों के राजहंस' को कई कारणों से बाद में पूरा किया। मुझे लगता है 'लहरों के राजहंस' उनका सबसे प्यारा नाटक था।

ज. त. : मैं बता चुका हूँ कि 'आषाढ़ का एक दिन' ही उनका पहला नाटक था। तब तक 'लहरों के राजहंस' का कोई उल्लेख या संकेत नहीं मिलता। असल में 'लहरों के राजहंस' का जो सूत्र था वो एक कहानी थी, जो राकेश के बहुत शुरू के दौर की कहानी है, कहीं छपी भी नहीं है वो। उसमें नन्द भी है, सुन्दरी भी है, और शायद आनंद भी... ये तीन चरित्र उसमें हैं। उस कहानी को लेकर राकेश बहुत संतुष्ट नहीं थे। वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि ये पौराणिक-ऐतिहासिक थीम है, ये कहानी के उपयुक्त नहीं है, भले नाटक के उपयुक्त हो सकता

है। उस कहानी को कहीं छपने भी नहीं दिया। पार्टिशन के बाद जब वो बाम्बे आये, 1947 में, उस समय बेरोज़गार थे। बड़ी कोशिश, बड़े हौसले से वे गए थे कि फ़िल्म इंडस्ट्री में काम करूँगा, क्योंकि लाहौर में फ़िल्म इंडस्ट्री, फिल्म-कंपनी छोड़ कर आये थे। यहाँ आकर पता लगा कि इस फ़िल्म इंडस्ट्री का तो तर्क ही अलग है। भूखों मरने की नौबत आ गई। तब उन्होंने उस कहानी को एकांकी के रूप में लिखा... रेडियो एकांकी के रूप में, जिसका नाम था 'सुन्दरी', जो कि उसकी लीड चरित्र है। उसके बारे में राकेश ने लिखा कि एक ईरानी चाय कैफ़े में, उसे मैंने रेडियो पर सुना, और माथा पीट लिया– अब रेडियो के लिए कभी कुछ नहीं लिखूँगा। उसके बाद जब वो जालंधर में थे और 'आषाढ़ का एक दिन' छप चुका था, पुरस्कृत भी हो चुका था तो हरिकृष्ण प्रेमी के आग्रह के कारण उन्होंने रेडियो के लिए बहुत सारे एकांकी लिखे, रेडियो नाटक लिखे, अपनी रचनाओं के भी रेडियो रूपांतरण किये। लेकिन 'आषाढ़ का एक दिन' का रेडियो रूपांतरण वहाँ के लिए नहीं किया था।

उसी दौरान उन्होंने उस सुंदरी वाले और उस कहानी वाले थीम को लेकर एक नाटक लिखा, 'रात बीतने तक'। इसके बारे में ख़ुद राकेश कहते हैं कि, 'ये रंगमंचीय नाटक था', लेकिन मेरी व्यक्तिगत धारणा ये है कि वो बेसिकली रेडियो नाटक ही है, वो मंच पर सफलतापूर्वक नहीं हो सकता। अब उसके बाद उसी थीम को लेकर 1963 में राकेश 'लहरों के राजहंस' पूरा करते हैं।

म. मो. : श्यामानंद जालान और राकेश के बीच के पत्राचार से यह माना जा सकता है कि नाटक पूरी तरह रंगमंच पर उतर आया– 'लहरों के राजहंस', जबकि इसके पहले लगभग सभी बड़े साहित्यकारों ने नाटक लिखे, लेकिन उन लोगों ने मंच का ख़याल नहीं रखा।

ज. त. : यह भी अर्धसत्य है। ऐसा है कि सन् 1965-70 के आसपास जब नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा बना और वहाँ से प्रशिक्षित होकर एक्टर और निर्देशक निकले, तब उन्होंने हिंदी नाटककार को बिल्कुल नकार दिया। उन लोगों ने कहा कि हिंदी के लेखकों को नाटक के शिल्प की कोई समझ नहीं है। उसमें नेमिचंद्र जैन जैसे आलोचक भी शामिल थे। और एनएसडी से जो निकले वे भी... एक उदाहरण दूँ मैं... लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक का एम.के. रैना रिहर्सल कर रहे थे, 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का। मैं उन दिनों एक छोटी-सी पत्रिका निकालता था 'अभिनय', अंतर्देशीय नाट्य पत्र। ऐसे ही मैं एनएसडी गया तो मैंने रैना से पूछा, 'कैसा चल रहा है रिहर्सल ?' उन्होंने कहा, 'यार क्या बताऊँ, तुम्हारे हिंदी वाले जो हैं न, हर दस दिन में नाटक लिख कर हमारे सर पर मार देते हैं। ये अभी जो रिहर्स कर रहा हूँ न मैं, वो डॉक्टर लाल का तो पता नहीं, दिल्ली में भी हैं कि नहीं हैं... वो सारा सीन मैंने लिखा है, उन्हें बताऊँ तो उनको समझ ही नहीं आएगा।' ये एप्रोच थी हिंदी नाटककार के प्रति... ख़ासतौर पर कहा जाता था, कि उसे निर्देशक और संस्था के साथ बैठ कर सीखना चाहिए कि वह नाटक कैसे लिखे।

हालाँकि राकेश ने इस धारणा के विरोध में 'नाटककार का रंगमंच' की धारणा को स्थापित किया था... उन्होंने कहा, 'नाटक में निर्देशक तो बाद में आता है, पहले नाटककार तय करता है कि नाटक कैसे होगा।' इसके बावजूद श्यामानंद जालान के आग्रह पर राकेश कलकत्ता गए। वहाँ पर भी वाद-विवाद के बाद अंतिम फ़ैसला नाटककार का ही होता था।

म. मो. : उनकी कहानियाँ और नाटक, उत्तरोत्तर बेहतर होते चले गए, मेरा तो ये कहना है कि अपने समय से आगे की रचना भी कही जा सकती है।

ज. त. : एक दृष्टि से देखें तो राकेश सिर्फ़ एक ही नाटक लिख रहे थे। एक ही नाटक को तीन तरह से उन्होंने लिखा... पहले में कालिदास लौटता है और चला जाता है। दूसरे में नंद आता है फिर लौट जाता है। तो राकेश ढूँढ़ते रहे हैं स्त्री और पुरुष के बीच परिवार की संभावना किन परिस्थितियों में बन सकती है... एक स्थाई सम्बन्ध कैसे बना रह सकता है ? वो बार-बार कोशिश करते हैं। पहली बार कालिदास को मल्लिका से संतोष मिलता है लेकिन वो केवल भावना ही है, उसमें बौद्धिक विलास नहीं है... वो प्रियंगुमंजरी में है... लेकिन वे दोनों दो अलग शख़्सियत हैं। तो भावनाप्रधान मल्लिका के साथ भी संतुष्ट नहीं है कालिदास और प्रियंगुमंजरी के साथ भी संतुष्ट नहीं है। उसे दोनों एक साथ चाहिए। वो लौटता है नंद बन कर। सुंदरी में लगभग दोनों चीज़ें एक साथ मौजूद हैं लेकिन उसका जो दर्प है, अहं है, वो नंद के अहं से टकराता है। राकेश कितने ही आधुनिक क्यों न रहे हों अपने व्यक्तिगत जीवन में वो पूरी तरह से मध्यवर्गीय पुरुष की मानसिकता लिए हुए थे। यह उनके जीवन का बहुत बड़ा अंतर्विरोध है। नारी विवेकवान भी हो, प्रगल्भ भी हो, भावुकता भी उसमें हो, प्रेम भी करती हो, लेकिन अगर उसमें अहं है और वो पुरुष के अहं से टकराती है, तो वो राकेश को स्वीकार नहीं है... जो उनकी पहली शादी का परिणाम था। उससे इसी वजह से नहीं बनी। उनकी

पहली पत्नी ने अपने इंटरव्यू में भी स्वीकार किया है कि हमारे अहं की टकराहट थी, जिसकी वजह से हम नहीं रह पाए साथ।

तो नाटक में नन्द फिर चला जाता है । राकेश लगातार सोच रहे हैं... कोई ऐसा विकल्प हो, जिससे स्त्री-पुरुष संबंध बने रह सकें... 'आधे अधूरे' में इसकी ज़िम्मेदारी वो स्त्री को सौंपते हैं... कि पुरुष तो असफल हो गया, वो कोई इक्वेशन नहीं ढूँढ़ पाया, चलो शायद सावित्री ढूँढ़ ले । असल में स्त्री-पुरुष संबंध में एक सम्यक समीकरण का बिन्दु तलाश रहे थे राकेश । ऐसा समीकरण जिसमें स्त्री-पुरुष साथ-साथ रह सकें, बिना तनाव के। 'आधे-अधूरे' में सावित्री भी उसी तरह से एक्सपेरिमेंट करती है, जैसे पहले दोनों नाटकों में कालिदास और नंद कर रहे हैं। लेकिन परिणाम फिर वही का वही है, कि दोनों न तो अलग हो सकते हैं, न साथ रह सकते हैं। तीनों नाटकों के बाद राकेश इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि वह सम्यक समीकरण शायद संभव नहीं था। ये कितना निराशावादी अंत है, लेकिन राकेश की मान्यता यहीं तक आकर रुक जाती है । वो ये कहते हैं कि... 'नो एक्ज़िट वाली स्थिति' है... एक-दूसरे को बर्दाश्त भी नहीं कर सकते हैं और एक-दूसरे से अलग भी नहीं हो सकते हैं।

म. मो. : नेहरू फ़ैलोशिप में उन्होंने किस विषय पर शोध किया और उसके पीछे क्या अवधारणा रही होगी ?

ज.त. : राकेश सिनेमा के मुकाबले रंगमंच के अस्तित्व को लेकर विचारशील थे। यथार्थवादी रंगमंच और सिनेमा में प्रतियोगिता-सी चल रही थी। रंगमंच उसका मुकाबला नहीं कर पा रहा था क्योंकि सिनेमा ने विज़ुअल को तोड़ने की शक्ति पा ली थी। चित्रपट पर किसी का चेहरा दिखाने के बाद झट से अगला दृश्य समन्दर की लहरों का भी हो सकता था । यह उसकी ताकत थी । सिनेमा की इस विशेषता का मुकाबला करने के लिए बादल सरकार और मोहन राकेश, दोनों लगातार काम कर रहे थे। नेहरू फ़ैलोशिप या कहें कि शिमला वर्कशॉप में बादल सरकार ने 'थर्ड थियेटर' की अवधारणा पर काम किया और राकेश ने 'ड्रैमेटिक वर्ल्ड' विषय पर।

राकेश की सोच यह थी कि रंगमंच के पास सबसे बड़ी ताकत शब्द की है। सिनेमा ने जैसे विज़ुअल को विखंडित कर दिया था, उसी तरह अगर नाटककार शब्द को विखंडित कर सके तो रंगमंच और सशक्त हो सकता है । इस संदर्भ में राकेश ने 'फ्रेगमेन्टिड लैंग्वेज' शब्द का प्रयोग किया है । अपनी अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'मैड डिलाइट' नामक रंग - प्रयोग किया था जिसे हिन्दी में पहले 'कुकुरमुत्ता का विद्रोध' व अंततः 'छतरियाँ' नाम मिला। इस रंग -प्रयोग में सभी संवाद नेपथ्य से बोले जाते थे और मंच पर कलाकार की मुद्राएँ व क्रियाएँ होती थीं। वो बताना चाहते थे कि संवाद और बिम्ब एक दूसरे के पूरक भी हो सकते हैं तथा विरोधी भी। इन दोनों के बीच से अंततः जो अर्थ निकलेगा वह दर्शक के मन में पैदा होगा। इससे दर्शक की कल्पनाशीलता को अपार विस्तार मिलेगा।

म. मो. : नेहरू फ़ैलोशिप या शिमला वर्कशॉप के तहत उन्होंने जो सोचा-विचारा उसका क्या उनकी बाद की रचनाओं पर प्रभाव पड़ा ?

ज. त. : राकेश नेहरू फ़ैलोशिप के दौरान जो काम कर रहे थे उसका कोई प्रभाव उनके अगले नाटक में दिखाई नहीं देता। चलो उनके आख़िरी नाटक का उत्तरार्द्ध कमलेश्वर ने पूरा किया, पर पहला अंक तो उन्हीं का लिखा हुआ है न ! वो उन शर्तों को पूरा नहीं करता जो नेहरू फ़ैलोशिप के अंतर्गत निर्णय पर पहुँच रही थीं कि शब्द-शक्ति ही सबसे महत्त्वपूर्ण है... ध्वनि और दृश्य तो अलग-अलग हैं... वो उससे उलझ ज़रूर रहे थे। सच है कि 'पैर तले की ज़मीन' प्रकाशन हेतु दिया जा चुका था, वह प्रेस में चला भी गया था। फिर राकेश के दिमाग़ में अचानक से आया कि नहीं, ये तो ठीक नहीं हो पाया। उन्होंने यह कहकर वापिस ले लिया कि मैं रिवाइज़ करके दूँगा, और रिवाइज़ करते-करते वो दुनिया से ही चले गए। एक बात और, यह बहुत ही रहस्यमय-सी बात है कि राकेश अपने अंतिम दिनों में 'पैर तले की ज़मीन' के अलावा 'चाणक्य' नाम के नाटक पर भी काम कर रहे थे। उसके लिए एडवांस भी उन्होंने राधाकृष्ण प्रकाशन से ले लिया था। ऐसा एक पत्र में ज़िक्र मिलता है। वो ओंप्रकाश जी से पूछते हैं कि, 'क्या एडवांस का पैसा मेरे अकाउंट में जमा हो गया ?' ओंप्रकाश जी कहते हैं, कि 'हाँ, वो जमा हो गया है। तुम स्क्रिप्ट कब दे रहे हो ?' राकेश दिन-रात उस पर काम कर रहे थे, ऐसा अनीता राकेश भी लिखती हैं।

म मो. : अच्छा ये बताइए, ये क्या कारण है कि जब राकेश की मृत्यु हुई तो उनकी इतनी सारी रचनाएँ अधूरी मिलीं.. एक रचना अधूरी होती या दो होतीं...लेकिन उनकी काफ़ी रचनाएँ अधूरी रह गई थीं।

ज.त. : ऐसा है कि राकेश के साथ मुश्किल यह थी कि कोई भी अधूरी रचना छूट जाने पर वो उसे उसके बाद दोबारा शुरू नहीं कर पाते थे। वो अगर रह गई है तो उसे पूरा करने का मतलब होगा कि उसे शुरू से दोबारा लिखें। इस कारण बहुत-सी रचनाएँ अधूरी छूट गईं। श्रीनगर में एक क्लब के डूबने पर... जो 'पैर तले की ज़मीन' नाटक की थीम थी... जब बाढ़ आई थी तो पुल टूट गया था। तब

उस क्लब में कमलेश्वर और राकेश दोनों एक साथ मौजूद थे... दोनों ने तय किया कि कमलेश्वर इस पर नाटक लिखेंगे और मोहन राकेश उपन्यास। राकेश ने उपन्यास लिखना शुरू किया, चार किस्तें छपी भीं।

म. मो. : जो छपा हुआ है, वो तो बहुत अच्छा लिखा हुआ है।

ज.त. : नहीं, बहुत भारी अंतर है। उसको आप 'पैर तले की ज़मीन' से मिला कर देखिए... उपन्यास में तो वो समझ ही नहीं पा रहे थे कि उसके आगे क्या लिखा जाए.... एक मुसीबत उनकी ये थी कि उनके बहुत सारे अफ़ेयर्स चलते थे, दोस्तियाँ थीं। उस चक्कर में वो... अब ये जो था 'काँपता हुआ दरिया'... ये बिल्कुल कम्प्लीट हो जाता। वो सिर्फ़ इस चक्कर में अधूरा रह गया कि बेटी के जन्म पर बम्बई गए और वहाँ दोस्तों ने घेर लिया। अंततः उन्होंने उसे छोड़ दिया बीच में...बाद में वो पूरा नहीं हो सका। वो अधूरा छूटा तो छूट गया, तो ये उनके साथ दिक्कत थी। अपनी किताब 'बकलम ख़ुद' में उन्होंने लिखा भी है कि कुछ चीज़ें एकदम से लिखी जाती हैं, कुछ चीज़ें पकड़ में आते-आते जुगनू की तरह से दिखाई देती हैं, फिर छूट जाती हैं, पकड़ में नहीं आती फिर...

म. मो. : उपन्यास तो ऐसी चीज़ है कि वो आप एकदम से नहीं लिख सकते हैं। उसमें काफ़ी लंबा समय लगता है।

ज.त. : 'अंधेरे बंद कमरे' को उन्होंने तीन या चार बार फिर से शुरू कर-कर के लिखा है... तीन-चार चेप्टर लिख दिए... पाँच लिख दिए , फिर लगा कि ठीक नहीं है... बात नहीं बन रही है तो फिर पहली लाइन से शुरू करो।

म. मो. : यह उनकी रचना-प्रक्रिया थी !

ज. त. : बिल्कुल... इस कारण उनकी ज़्यादातर चीज़ें अधूरी रह गई हैं।

म. मो. : 30 नवंबर 57 को लिखे डायरी के अंश को राकेश अपने आगे के जीवन में मूल मंत्र की तरह लेते रहे हैं। वो डायरी में लिख रहे हैं, 'ज़िंदगी की सार्थकता इसी में है कि पराजय भी आगे जाने की उतनी ही प्रेरणा दे जितना विजय दे सकती है, मैं ज़िंदगी से प्यार करता हूँ। ' दूसरा वाक्य है, 'हम जिन्हें प्यार करते हैं, वे जीवन का प्रतीक होते हैं। व्यक्ति तुम्हें धोखा दे सकते हैं, पर जीवन नहीं। '

ज. त. : मुझे नहीं लगता कि यह उनकी डायरी की पंक्तियाँ हैं।

म. मो. : मैंने तो डायरी से ही पंक्तियाँ ली हैं, आप उस पर कुछ रोशनी डालिए।

ज. त. : ये तो राकेश का जीवन-दर्शन रहा है। वो कहते हैं कि मैं किसी भी व्यक्ति पर अविश्वास नहीं कर सकता, जब तक कि वो यह सिद्ध न कर दे कि वो विश्वास के लायक़ नहीं है। इसलिए जीवन में उनकी ज़बरदस्त आस्था है, और वो आस्था इस हद तक है कि वो कहते हैं कि मैं जीवन को कभी भी किसी पराजित भावना से नहीं जी सकता। कौशल्या अश्क उन्हें एक पत्र लिखती हैं कि तुम्हारी पत्नी सुशीला को अब पश्चाताप हो रहा है, तुम्हें उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वहाँ राकेश ये कहते हैं... ये सोच कर कि वह मेरे बुढ़ापे की लाठी हो जाएगी, मैं इस पराजय भाव से जीवन को नहीं जी सकता, न ही स्वीकार कर सकता हूँ... और जिसे मैंने छोड़ दिया उसे कभी पलट कर नहीं देखता। इसलिए जीवन में चाहे जय हो या पराजय, हर हाल में उससे लड़ना और उससे आगे जाना ही मेरा जीवन-दर्शन है। ये राकेश की अपनी सोच रही है। उसी संदर्भ में ये बात वो वीना को भी समझाते हैं क्योंकि वीना ये कहती है कि मेरा पति अगर मुझे समझ नहीं पाता तो मुझे क्या करना चाहिए ? राकेश कहते हैं कि ये सवाल किसी दूसरे से पूछने का नहीं है, अपने आप से पूछने का है। यह फिर वही दर्शन है जो 'लहरों के राजहंस' में है। वहाँ आनंद कहता है कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर अगर कोई दे सकता है तो वह स्वयं तुम हो, कोई दूसरा व्यक्ति नहीं दे सकता। बिल्कुल वही बात वह वीणा को कह रहे हैं। यानी जीवन को जीने के लिए हमें हमेशा तत्पर रहना चाहिए । उसके लिए सकारात्मक दृष्टिकोण से आगे चलना चाहिए। उसे स्वीकार करना चाहिए।

म. मो. : राकेश का जन्म शताब्दी वर्ष है। उसके उपलक्ष्य में हिन्दी रंगमंच और मीडिया की प्रतिक्रिया पर कुछ कहना चाहेंगे ?

ज. त. : अभी यह शतवार्षिकी शुरू ही हुई है। अभी कोई ख़ास सुगबुगाहट, दिखाई नहीं देती। ऐसे में 'अभिनव इमरोज़' का मोहन राकेश विशेषांक निकालना ताज़ा हवा के एक झोंके की तरह सुकून देने वाला प्रयास है। पत्रिका को मेरी ओर से बधाई और इस अंक के लिए हार्दिक शुभकामनाएँ।

मनोज मोहन
पाठक एवं समीक्षक
सम्पर्क: एल पी - 61/बी पीतमपुरा
दिल्ली - 110034
मो. 918851259407
ईमेल: manojmohan2828@gmail.com

...जारी है...

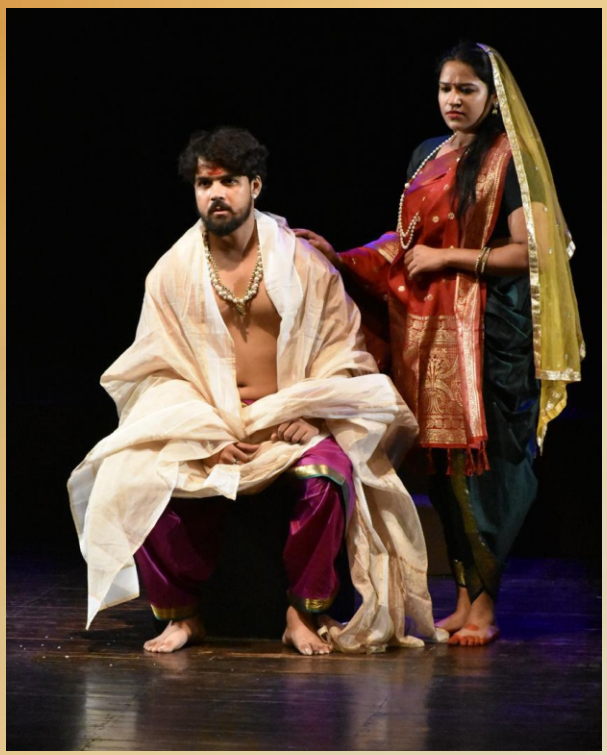

रचनात्मक प्रयोग के तौर पर शून्य नाट्य समूह की निर्देशक रमा यादव के निर्देशन में 'मोहन राकेश के तीन नाटक ' का सितंबर 2024 में श्रीराम सेंटर में हुआ मंचन ।

सतीश आनन्द के निर्देशन में ए आर एस डी कॉलेज के नाट्य दल ' रंगायन ' द्वारा वर्ष 2017 में श्रीराम सेंटर , दिल्ली में मंचित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का एक दृश्य।

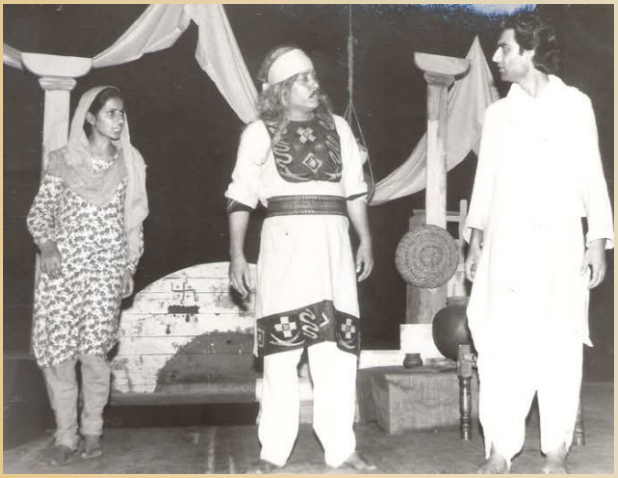

अमैचुअर थियेटर ग्रुप, जम्मू द्वारा डोगरी भाषा में मुश्ताक़ काक के निर्देशन में वर्ष 1996 में मंचित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' की जम्मू में हुई प्रस्तुति का एक दृश्य।

साहित्य कला परिषद, दिल्ली के तत्वावधान में मोहन राकेश सम्मान समारोह में वर्ष 2013 में क्षितिज थियेटर ग्रुप द्वारा भारती शर्मा के निर्देशन में मंचित नाटक ' आधे अधूरे ' का एक दृश्य।

सर्कल थियेटर ग्रुप के तत्वावधान में बापी बोस द्वारा निर्देशित 'आषाढ़ का एक दिन' के मार्च 2017 को श्रीराम सेंटर, दिल्ली में हुए मंचन का एक दृश्य।

सौ दिवसीय अलवर रंगम, अलवर में हाल ही में मोहन राकेश के जन्म दिवस के उपलक्ष्य में 8 जनवरी 2025 को सुभाष गुप्ता द्वारा निर्देशित नाटक ' आधे अधूरे ' का एक दृश्य।

व्यक्ति क्या है? केवल एक छोटी-सी घटना। सब व्यक्ति छोटी-छोटी घटनाएँ हैं। जीवन के सन्दर्भ में कभी-कभी एक छोटी-सी घटना भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठती है...यही बात व्यक्ति के साथ होती है। व्यक्ति का एकान्तिक महत्व कुछ भी नहीं है... वह केवल किसी न किसी संदर्भ में ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए 'जीनियस' और 'चुने हुए व्यक्ति' का सारा दम्भ निराधार और निरर्थक है। हर मनुष्य... यदि उसकी सम्भावनाएँ पहचानी जा सकें...तो किसी न किसी रूप में, या किसी न किसी क्षेत्र में जीनियस होता है। जीवन का सन्दर्भ यदि उन सम्भावनाओं को प्रकट होने का अवसर नहीं देता तो वह व्यक्ति ठूँठ, अनपढ़, असभ्य, ओछा... कुछ भी बना रह सकता है। और अनुकूल सन्दर्भ उसे एक समय की संचालक शक्तियों में से एक भी बना दे सकता है। यूँ मनुष्य की योग्यता के कई स्तर हो सकते हैं...उसकी कर्मशक्ति के भी स्तर हो सकते हैं। परन्तु स्तर-स्तर का भेद उतना बड़ा नहीं होता, जितनी व्यक्तियों की जीवन के सन्दर्भ में स्थिति देखकर अनुमान होता है। कई बार जीवन का सन्दर्भ और व्यक्ति का प्रयत्न उसे उसकी योग्यता के स्तर से कहीं ऊँचे स्तर पर पहुंचा देता है परन्तु न यह विस्मित होने की बात है, न भाग्यवादी बनने की। भाग्य एक ही है... और वह सारी मानवता का सामान्य है... समय की गति के अनुसार जीवन में होने वाले अनिवार्य परिवर्तन ही मनुष्य का भाग्य है। व्यक्ति का भाग्य कुछ नहीं है... इसे केवल एक साधारण घटना से मिला हुआ अनुकूल, प्रतिकूल या उदासीन सन्दर्भ ही कह सकते हैं। और वह सन्दर्भ स्वतः घटना है। इसलिए मनुष्यों में कोई बड़ा कोई छोटा नहीं है... केवल पद और अर्थ की दृष्टि से ही नहीं... अन्तर्हित योग्यता और मानवीय गुण की दृष्टि से भी!

मोहन राकेश

मोहन राकेश की डायरी

जालंधर, 16 अगस्त 1958

अभिनव इमरोज़

RNI NO. DELHIN/2012/40913 | प्रेषक : बी–3/3223, वसंतकुंज, नई दिल्ली 110070, मो. 09910497972